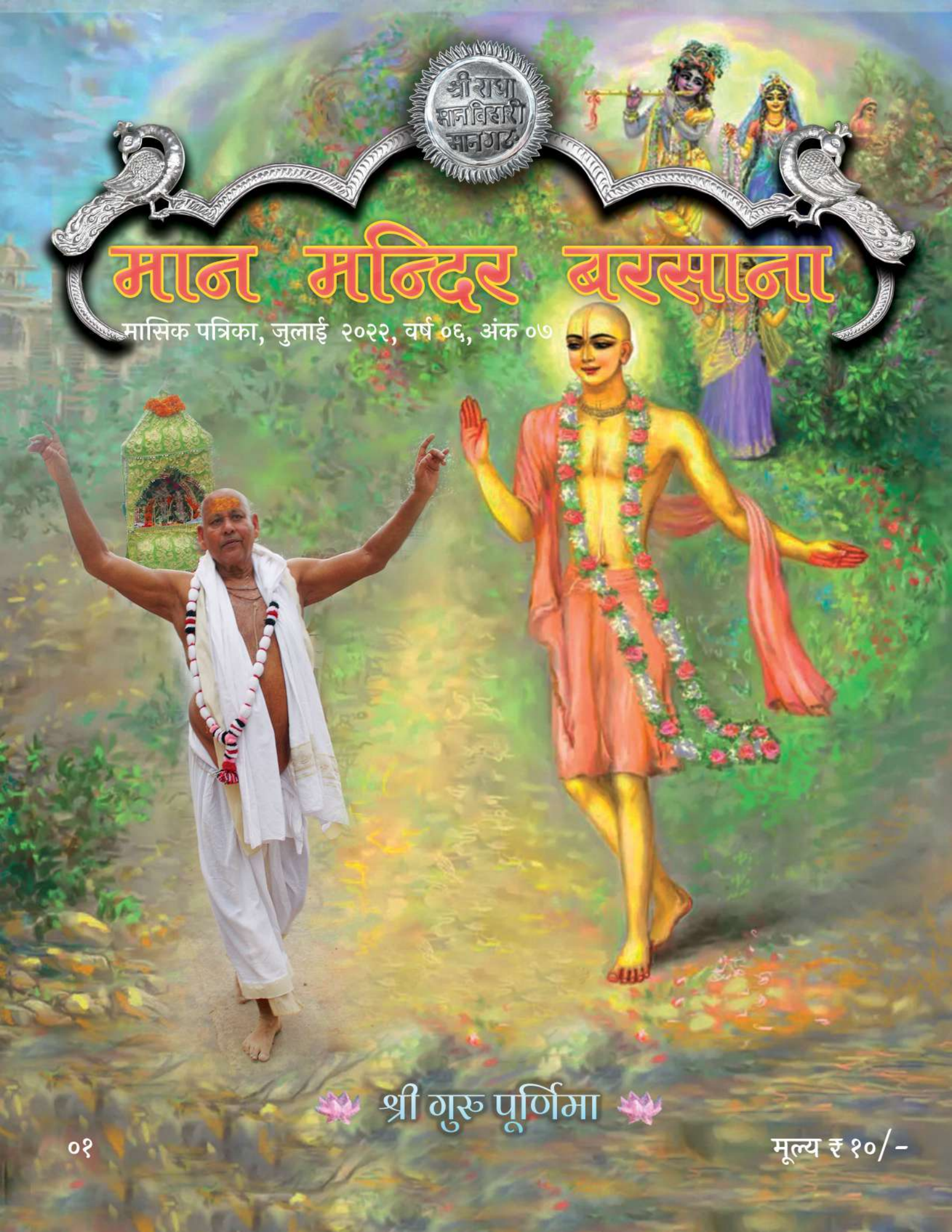

मान मन्दिर बरसाना

मासिक पत्रिका, जुलाई २०२२, वर्ष ०६, अंक ०७

श्री गुरु पूर्णिमा

मूल्य ₹ १०/-

बाल साध्वी मधुवनी जी चंद्रेश्वर महादेव कामां राज. मैं श्रीमद्भागवत कथा कहते हुए

अनुक्रमणिका

विषय- सूची **पृष्ठ- संख्या**

०१ विशुद्ध भाव-दान ही वास्तविक दीक्षा.....०५
०२. दीक्षा का फल 'सत्संगमयी रहनी'.....०८
०३. कल्याणकारिणी 'निष्काम आराधना'.....११
०४. साक्षात् श्रीभगवत्कृपा स्वरूप 'श्रीसद्गुरुदेव' १४
०५. सबसे बड़ा लाभ 'सत्संग'.....१८
०६. श्रीब्रजाराधक संत 'बाबाश्री' २०
०७. संत-संग से ही भक्ति-प्राप्ति २६
०८. नामु बड़ राम ते २९
०९ परम प्रबल 'प्रेम-शक्ति' ३१
१० बुद्धियोग से कुशल कर्म.....३४

|| राधे किशोरी दया करो ||

हमसे दीन न कोई जग में,
बान दया की तनक ढरो |
सदा ढरी दीनन पै श्यामा,
यह विश्वास जो मनहि खरो |
विषम विषयविष ज्वालमाल में,
विविध ताप तापनि जु जरो |
दीनन हित अवतरी जगत में,
दीनपालिनी हिय विचरो |
दास तुम्हारो आस और की,
हरो विमुख गति को झगरो |
कबहूँ तो करुणा करोगी श्यामा,
यही आस ते द्वार पर्‌यो |

— *पूज्यश्री बाबामहाराज कृत*

संरक्षक- **श्रीराधामानबिहारीलाल**

प्रकाशक – **राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर सेवा संस्थान, गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.)**

mob. राधाकांत शास्त्री 9927338666

ब्रजकिशोरदास.....6396322922

(Website :www.maanmandir.org)

(E-mail :info@maanmandir.org)

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा आप प्रातःकालीन सत्संग का ८:०० से ९:०० बजे तक तथा संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:०० से ७:३० बजे तक प्रतिदिन लाइव प्रसारण देख सकते हैं |

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान –

"मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के लिए गौ-सेवा-यज्ञ में भाग ले |"

*** योजना ***

अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निकाले व मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवा-द्रव्य किसी विश्वसनीय गौ-सेवा प्रकल्प को दानकर गौ-रक्षा कार्य में सहभागी बन अनंत पुण्य का लाभ लें | हिन्दू-शास्त्रों में अंश मात्र गौ-सेवा की भी बडी महिमा का वर्णन किया गया है |

विशेष:- इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें, जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्-कृपा के पात्र बनें | हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है –

सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ | जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि || (श्रीमद्भागवतजी ३/७/४१)

अर्थात् 'भगवत्तत्त्व' के उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है, 'समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य' उस पुण्य के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता |

प्रकाशकीय

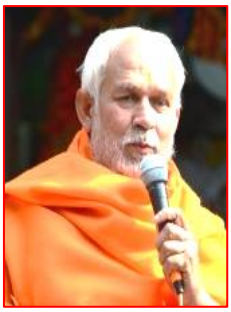

सत्य सनातन भगवान् श्रीकृष्ण ही चराचर जगत के गुरु हैं परन्तु शास्त्रोक्त-कथन पर भी किसी का विश्वास नहीं है, फिर भला कैसे हम सन्मार्ग के पथिक बन सकते हैं ? कभी नहीं। 'गुरु-पूर्णिमा' के अवसर पर जहाँ सर्वत्र 'गुरु-पूजा व गुरु बनाने की उत्कंठा' बहुधा देखी जाती है। माना आपने किसी को 'गुरु' बना ही लिया तो भी आपकी जो आकांक्षा थी कि अब मेरा उद्धार हो ही जाएगा, क्या इसे यथार्थ मान लिया जाय ?

कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिल जाता है कि एक शिष्य द्वारा 'गुरु-पूर्णिमा' पर यथेष्ट राशि व भेंट सामग्री नहीं लाई गई तो गुरुदेव क्रोध में अन्धे होकर शिष्य से बोले कि हमारी बाँधी हुई कंठी तोड़, हम समझेंगे कि हमने किसी कुत्ते के गले में पट्टा बाँध दिया था; तभी कंठी तोड़ते हुए शिष्य ने कहा कि हम भी समझेंगे कि कोई कुत्ता हमारा कान सूँघ गया था; 'परस्पर दोनों का व्यवहार' क्या 'गुरु व शिष्य' दोनों में से किसी का कल्याण कर पाएगा ? यह तो वैसा ही होगा जैसे 'एक अन्धे का अनुगमन करने वाले' रास्ते में पड़ने वाले कुएँ में गिरेंगे ही । आवश्यकता है श्रद्धा-विश्वास व समर्पण की । ब्रज के विरक्त संत पद्मश्री 'श्रीरमेशबाबामहाराज' ने अपने अखण्ड ब्रजवास के ७० वर्षों में एक भी शिष्य नहीं बनाया, फिर भी उनके लाखों शिष्य हैं । 'गुरु-शिष्य' का सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित नहीं होता । कहा गया है –

"जो गुरु करै शिष्य की आस। स्याम भजन ते भया उदास॥"

घर छोड़कर 'घर जोड़ने वाले' वासना-जगत में ठोकरों के अलावा कुछ प्राप्त नहीं कर पाएँगे। निष्काम बनकर चलो, प्रभु तुम्हें अवश्य किसी लोकातीत महापुरुष से भेंट करा देंगे; इसके पश्चात् तुम्हारी नैया अवश्य पार लग जाएगी।

प्रबन्धक

राधाकान्त शास्त्री

श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

विशुद्ध भाव-दान ही वास्तविक दीक्षा

परमार्थ-पथ (भक्तिमार्ग) पर यथार्थ रूप से सतत् चलने व अपने आराध्य 'श्रीभगवान्' की सम्यक् प्राप्ति करने के लिए किसी सच्चे मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, जिसे सद्गुरु कहते हैं। सच्चा सद्गुरु कौन है, उसके लक्षण क्या हैं अर्थात् किन लक्षणों से हम उसकी पहचान करें तो 'सच्चे सद्गुरु के लक्षण' श्रीमद्भागवत में नारदजी ने बताये हैं –

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥

(श्रीभागवतजी ४/२९/५१)

सच्चा सद्गुरु वही है जो केवल इतना जानता हो कि 'भगवान्' ही जीव के सच्चे प्रियतम हैं और जिनके रास्ते पर चलने में अणुमात्र भी भय नहीं है।

इसी एक लक्षण के विद्यमान होने पर 'सद्गुरु' की पहचान की जा सकती है। यह लक्षण जिसमें भी हो, चाहे वह गृहस्थ हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, स्त्री अथवा पशु-पक्षी ही क्यों न हो, उसे 'सद्गुरु' के रूप में वरण कर उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि ऐसा सद्गुरु विरक्त वेष में हो अथवा प्रामाणिक गुरु परम्परा में ही हो। श्रीचैतन्यचरितामृत में भी गुरु के लक्षण के बारे में कहा गया है –

जेई कृष्ण तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय।

जिसे कृष्ण तत्त्व का सम्यक् ज्ञान है, वही गुरु है।

भक्तमाल के अनुसार रानी रत्नावती ने अपनी दासी के अन्दर उत्कट भगवत्प्रेम के लक्षण देखकर उसी को अपने गुरु रूप में वरण कर उसकी कृपा से भक्ति व भगवन्त की प्राप्ति की थी। इसी प्रकार रामायण के अनुसार भगवान् श्रीराम के नागपाश में बाँधे जाने और चेतनाशून्य होने पर श्रीगरुड़जी ने उनको इस सुदृढ़ बन्धन से मुक्त किया तो प्रभु की ऐसी स्थिति को देखकर उन्हें मोह हो गया और तब उन्हें महाभागवत परन्तु काकवपुधारी (कौवे के रूप वाले) कागभुशुण्डिजी के शरणापन्न होकर उनसे दिव्य उपदेशामृत का पान करने पर ही उनके इस प्रबल मोह की निवृत्ति हो सकी थी। इसी प्रकार दक्ष-यज्ञ में सतीजी के देहत्याग करने पर महादेवजी उनके दुःसह विरह की ज्वाला से जलते हुए पागलों की भाँति भटकने लगे और अन्त में कागभुशुण्डिजी के मुख से भगवत्कथा का पान करने पर ही दारुण दुःख से मुक्त होकर उन्हें परम शान्ति की प्राप्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि भगवत्स्वरूप के वास्तविक ज्ञाता और सच्चे भगवत्प्रेमी के संग की आवश्यकता सभी को होती है चाहे अत्यन्त पतित से पतित अधम प्राणी हो अथवा अध्यात्ममार्ग के सर्वोच्च अधिकारी व ज्ञाता और ईश्वर स्वरूप देवाधिदेव महादेव ही क्यों न हों। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में लिखा –

गुरु बिनु भव निधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई॥ (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ९३)

सद्गुरु के आश्रय के बिना विश्व ब्रह्माण्ड का कोई भी जीव दुर्गम भवसागर को पार नहीं कर सकता, चाहे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अथवा ईश्वर कोटि के महादेव ही क्यों न हों।

'सद्गुरु' के रूप में भगवत्तत्त्व के ज्ञाता महापुरुष का आश्रय ग्रहण कर उनकी सेवा करने और उनसे प्रश्न करके दिव्य आध्यात्मिक ज्ञान से लाभान्वित होने के लिए स्वयं श्रीभगवान् कृष्ण ने भी कहा है –

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(श्रीगीताजी ४/३४,३५)

उस ज्ञान को तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनके शरणापन्न होकर, उनकी सेवा करने एवं उनसे निष्कपट भाव से प्रश्न करने पर परमात्मतत्त्व को भलीभाँति जानने वाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे, जिसको जानकर तू मोह को प्राप्त नहीं होगा तथा जिस ज्ञान के द्वारा तू सम्पूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहले अपने में और पीछे मुझ

सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा। सनातन धर्म के सभी शास्त्रों में आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश और उसमें सफलता पाने के लिए निष्किञ्चन महापुरुष की शरणागति ग्रहण करने को अनिवार्य बताया गया है। जैसे कि जड़भरतजी ने परमार्थ तत्त्व के जिज्ञासु राजा रहूगण को उपदेश दिया –

रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

(श्रीभागवतजी ५/१२/१२)

रहूगण! महापुरुषों के चरणों की धूलि से अपने को स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, दान, अतिथि सेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि किसी भी साधन से परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार प्रह्लादजी ने अपने पिता हिरण्यकशिपु से कहा –

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

(श्रीभागवतजी ७/५/३२)

जिनकी बुद्धि भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श कर लेती है, उनके जन्म-मृत्युरूप अनर्थ का सर्वथा नाश हो जाता है परन्तु जो लोग अकिंचन भगवत्प्रेमी महात्माओं के चरणों की धूलि में स्नान अर्थात् उनके चरणों की शरण नहीं ग्रहण करते, उनकी बुद्धि काम्यकर्मों का पूरा सेवन करने पर भी भगवच्चरणों का स्पर्श नहीं कर सकती।

इससे स्पष्ट है कि निष्किञ्चन महापुरुष ही सच्चे सद्गुरु हैं और आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के लिए उनका आश्रय परमावश्यक है। परन्तु वर्तमानकाल में समस्त आध्यात्मिक संस्थानों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के धर्माचार्यों के द्वारा जनसाधारण के समक्ष इस बात पर अधिक जोर दिया जा रहा है कि एक सम्प्रदायविशेष अथवा प्रामाणिक आचार्य परम्परा के अधिकृत सन्त से गुरु दीक्षा लेना अनिवार्य है और इस प्रकार से गुरु दीक्षा न लेने पर भगवान् का भजन करने पर भी उससे कोई लाभ नहीं होगा।

अब उनके द्वारा गुरु-दीक्षा लेने को जो विशेष महत्त्व दिया जा रहा है तो हर बात को शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। जिस बात का कोई शास्त्रीय आधार नहीं है, उसे किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्या वास्तव में शास्त्रों एवं प्रामाणिक महापुरुषों अथवा आचार्यों ने 'सद्गुरु' को ग्रहण कर उनसे दीक्षा लेने को अनिवार्य बताया है? नहीं ...।

गुरु-दीक्षा है क्या, इसका क्या शास्त्रीय आधार है तो नारद पांचरात्र में कहा गया है –

दिव्यं भावं यतो दद्यात् क्षिणोति दुरितानि च।
अतो दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वारम्भ विशारदैः॥

दिव्य भाव का दान ही दीक्षा है। गुरुदेव दिव्य भावों का दान करते हैं, जिनसे पाप की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

नारद पांचरात्र में दीक्षा के स्वरूप को स्पष्ट रूप से परिभाषित कर दिया गया है कि जो महापुरुष जीव के हृदय में दिव्य भावों का बीजारोपण करके उसके अन्तःकरण से पाप-प्रवृत्ति का विनाश करते हैं, वे ही 'सद्गुरु' हैं और उनके द्वारा किया गया यह कृत्य ही 'गुरुदीक्षा' है। इसमें यह आवश्यक नहीं है, जैसा कि आजकल इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि गुरुदेव के द्वारा शास्त्रीय विधि से शिष्य को मन्त्रदान करना ही गुरुदीक्षा है। जीव के हृदय में दिव्य भाव का दान महापुरुष अथवा शुद्ध भक्त प्रायः कथा और कीर्तन के माध्यम से ही करते हैं। इसमें यह अनिवार्यता नहीं है कि मन्त्र प्रदान करने से ही दिव्य भावों का बीजारोपण किया गया। इसके लिए बहुत से शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए जब राजा परीक्षित को तक्षक जैसे महाविषधर सर्प के द्वारा काटे जाने पर मृत्यु होने का शाप मिला तो उस समय परमहंस शिरोमणि व्यासनन्दन श्रीशुकदेवजी ने अहर्निश सात दिनों तक उन्हें श्रीमद्भागवत कथामृत का पान कराया, जिसके प्रभाव से तक्षक के द्वारा डसे जाने के पूर्व ही वे ब्रह्म में स्थित हो चुके थे और आगे उन्हें दिव्य भगवद्धाम की प्राप्ति हुई।

तुम जितना छोटे बनोगे (जितना दैन्य भाव आएगा), उतने ही भगवान् के प्यारे बन जाओगे।

अब यहाँ देखा जाए तो परीक्षितजी के सामने देवयोनि के तक्षक जैसे दुर्दान्त सर्प के काटने द्वारा सात दिनों में ही होने वाली मृत्यु की भयंकर परिस्थिति थी। ऐसी घोर विषम परिस्थिति में स्वयं ही शुकदेवजी उनके पास आये और उन्होंने उस समय परीक्षित जी को कोई मन्त्र दीक्षा प्रदान नहीं की अपितु सात दिनों तक अनवरत् श्रीमद्भागवत कथामृत का ही पान कराया, जिसके फलस्वरूप उन्हें परम धाम की प्राप्ति हुई। इसलिए यह तर्क पूर्ण रूप से निराधार है कि प्रामाणिक गुरु से मन्त्र दीक्षा लेना ही वास्तविक गुरुदीक्षा है और इसके द्वारा ही जीव का कल्याण होता है तथा ऐसी गुरुदीक्षा के अभाव में भजन का भी कोई फल नहीं होता है। श्रीमद्भागवत तथा विभिन्न वैष्णव शास्त्रों में कलियुग में जीव कल्याण का एकमात्र साधन हरिनाम कीर्तन को ही बताया गया है। शास्त्र में कहा गया है कि 'भगवन्नाम' ही एकमात्र सबसे बड़ा मन्त्र है – "**एको मन्त्रस्तस्य नामानि**।"

भगवन्नाम लेने में दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। चैतन्यचरितामृत में कहा गया है –

दीक्षा पुरश्चर्या विधि अपेक्षा न करे।
नो दीक्षां न च सत्क्रियां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः ॥

श्रीकृष्ण नाम का जप करने के लिए किसी प्रकार की दीक्षा, शास्त्रसम्मत सत्क्रिया अथवा वैदिक कर्मकाण्ड (पुरश्चरण आदि) की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीकृष्ण नाम ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है और केवल रसना (जीभ) के द्वारा उच्चारण करने पर ही फल प्रदान करने वाला है।

विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्यां विनैव हि।
विनैव न्यास विधिना जपमात्रेण सिद्धिदः ॥

बिना दीक्षा के, बिना पूजार्चन और बिना न्यास के केवल जप करने से ही श्रीकृष्णनाम सिद्धि देने वाला है।

यहाँ तक कि मन्त्र, अनुष्ठान-पद्धति, देश, काल, पात्र व वस्तु-पदार्थ इत्यादि में हुई सभी प्रकार की गलतियों को श्रीभगवन्नाम संकीर्तन सुधार देता है –

मन्त्रतस्तन्त्रश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव ॥

(श्रीभागवतजी ८/२३/१६)

उपरोक्त इन वैष्णव-शास्त्रों के प्रमाणानुसार आधुनिक धर्माचार्यों और उनके अनुयायियों द्वारा जनसाधारण के समक्ष प्रबल रूप से व्यक्त किया गया जाने वाला यह मत कि गुरु द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा ही कल्याण का एकमात्र साधन है और इसके अभाव में किया जाने वाला भजन अर्थात् नाम जप और कीर्तन के द्वारा कोई फल नहीं मिलता, इससे कोई आध्यात्मिक सिद्धि नहीं होती – पूर्णतया अशास्त्रीय और साधारण जनता को दिग्भ्रमित करने वाला है। गुरुदीक्षा के समर्थन में कहे जाने वाले ऐसे वाक्यों से भ्रमित होकर लोग शास्त्रों द्वारा बारम्बार कलियुग में कल्याण के एकमात्र साधन नामजप और नाम कीर्तन की महिमा की गर्जना किये जाने पर भी इस सर्वश्रेष्ठ साधन को फलदायक न समझकर किसी गुरु के द्वारा मन्त्र-दीक्षा लेने के लिए भटकते रहते हैं और बहुधा ऐसा देखने में आता है कि गुरु के रूप में दीक्षा देने वाले महानुभावों के द्वारा समाज का हित होने की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है। विशाल जनसमुदाय को गुरुदीक्षा देने वाले कितने ही आधुनिक गुरु तो अनेकों गम्भीर आरोपों से घिरकर आज देश के विभिन्न कारागारों में बंद हैं। जो लोग प्रामाणिक वैष्णव सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा में ही गुरुदीक्षा लेने के प्रबल पक्षपाती हैं, उनके यहाँ भी बहुधा बहुत से शास्त्र विरुद्ध आचरण किये जाते हैं तथा भोग और ऐश्वर्य का प्रचुर मात्रा में वहाँ प्राधान्य देखने में आता है। कई बार ऐसा देखने में आता है कि उनके आश्रमों-मन्दिरों में धनी लोगों को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है और सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी निर्धन वर्ग के लोगों की उपेक्षा की जाती है। इसीलिए लोगों को सावधान करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है –

हरइ सिष्य धन सोक न हरई।
सो गुरु घोर नरक महुँ परई ॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ९९)

जो गुरु केवल स्वार्थवश शिष्य के धन का तो उपभोग कर लेता है परन्तु उसके अज्ञानजनित शोक का विनाश कर उसका कल्याण नहीं करता, ऐसा लोभी गुरु घोर नरकगामी होता है।

दीक्षा का फल 'सत्संगमयी रहनी'

यह भी जानना बहुत अधिक आवश्यक है कि दीक्षा गुरु से अधिक महत्त्व शिक्षा गुरु का होता है। किसी व्यक्ति ने अपनी आस्था के अनुसार किसी गुरु विशेष से मन्त्र दीक्षा तो ले ली किन्तु भक्ति की महिमा, भगवान् के नाम, धाम और उनके भक्तों की महिमा का ज्ञान तथा भक्ति मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले अन्तःकरण के विकार, अनर्थ और अपराध, जिन्हें निम्बार्काचार्य जी ने विरोधी तत्त्व कहा है, इनसे किस प्रकार बचते हुए अपने साधन में दृढ़ता और सावधानीपूर्वक चला जाये, इसके लिए गुरु द्वारा गम्भीर उद्बोधन की आवश्यकता होती है। अगर शिष्य को अपनी साधना के स्वरूप, उसके महत्त्व और साधन पथ में आने वाले बाधक तत्वों से बचने के बारे में गुरु से शिक्षा प्राप्त नहीं होती है तो मात्र मन्त्र दीक्षा से उसका कल्याण नहीं होने वाला। सत्संग के द्वारा अनर्थों और अपराधों से बचते हुए भक्ति मार्ग में अग्रसर होने के सम्बन्ध में सद्गुरु के द्वारा निरन्तर विवेक की प्राप्ति होती रहे, यह मन्त्र दीक्षा से बढ़कर है परन्तु केवल मन्त्र दीक्षा ग्रहण कर ली और सद्गुरु के सतत् सत्संग के द्वारा विवेक की प्राप्ति नहीं हुई तो केवल मन्त्र दीक्षा से साधक का कल्याण नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है भक्त शिरोमणि श्रीध्रुवजी का। यह तो सर्वविदित है कि पाँच वर्ष के ध्रुवजी जब अपने पिता महाराज उत्तानपाद की गोद में बैठना चाहते थे तो उनकी विमाता सुरुचि ने उन्हें कर्कश वचनों से मर्माहत करके पिता की गोद में बैठने से रोक दिया था। अपनी विमाता के द्वारा किये गये दुर्व्यवहार से दुखी होकर ध्रुवजी रोते हुए अपनी माता सुनीति के पास पहुँचे तो उन्होंने अपने इस पाँच वर्ष के बालक को भगवान् की शरण में जाकर उनकी आराधना करने की प्रेरणा दी और इसके लिए उन्हें बाल्यावस्था में ही घोर वन में भेज दिया जबकि ध्रुवजी को इतनी अल्पावस्था में भगवान् की महिमा और उनको प्राप्त करने के लिए की जाने वाली साधना के बारे में कोई ज्ञान नहीं था। परन्तु उनकी प्रबल उत्कण्ठा के कारण भगवत्कृपा से स्वयं देवर्षि नारदजी उनके सामने प्रकट हुए और उनकी मनोदशा को जानकर दिव्य उद्बोधन प्रदान करते हुए कहा –

यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन्देही तमसः पारमृच्छति॥

(श्रीभागवतजी ४/८/३३)

विधाता के विधान के अनुसार सुख-दुःख जो कुछ भी प्राप्त हो, उसी में चित्त को सन्तुष्ट रखना चाहिए। ऐसा करने वाला मनुष्य मोहमय संसार से पार हो जाता है।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात्।
मैत्रीं समानादन्विच्छेन्न तापैरभिभूयते॥

(श्रीभागवतजी ४/८/३४)

मनुष्य को चाहिए कि अपने से अधिक गुणवान व्यक्ति को देखकर प्रसन्न हो, जो कम गुणवाला हो, उस पर दया करे और जो अपने समान गुणवाला हो, उससे मित्रता का भाव रखे; ऐसा करने से उसे दुःख कभी नहीं दबा सकते। देवर्षि नारद की वाणी को सुनकर ध्रुवजी ने कहा – 'भगवन्! सुख-दुःख से जिनका चित्त चंचल हो जाता है, उन लोगों के लिए आपने कृपा करके शान्ति का यह बहुत अच्छा उपाय बतलाया। परन्तु मुझ जैसे अज्ञानियों की दृष्टि यहाँ तक नहीं पहुँच पाती। इसके अतिरिक्त, मुझे घोर क्षत्रिय स्वभाव प्राप्त हुआ है, अतः मुझमें विनय का प्रायः अभाव है। सुरुचि ने अपने कटुवचनरूपी बाणों से मेरे हृदय को विदीर्ण कर डाला है, इसलिए उसमें आपका यह उपदेश ठहर नहीं पा रहा है। मैं तो उस पद पर अधिकार करना चाहता हूँ, जो त्रिलोकी में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप-दादा और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं। आप मुझे उसी की प्राप्ति का कोई अच्छा-सा मार्ग बतलाइए।' ध्रुवजी की ऐसी उत्कट लालसा की पूर्ति के लिए तब नारदजी ने कहा कि जिस मनुष्य को अपने लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ की अभिलाषा हो, उसके लिए इनकी प्राप्ति का उपाय एकमात्र श्रीहरि के चरणों का सेवन ही है। अपने इस उद्देश्य की

पूर्ति के लिए तुम यमुनाजी के तटवर्ती, श्रीहरि के निवासस्थल मधुवन में जाकर उनकी आराधना करो।

ऐसा कहकर फिर नारदजी ने ध्रुवजी को भगवान् के रूप का ध्यान करने की विधि बताई और इसके साथ ही 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' नामक द्वादशाक्षर मन्त्र की दीक्षा प्रदान की। ध्रुवजी नारदजी की आज्ञानुसार मधुवन पहुँचे और वहाँ गुरुदेव की बताई हुई विधि के अनुसार कठोर तपश्चर्या करते हुए भगवान् के रूप के ध्यान और द्वादशाक्षर मन्त्र के जप में पूर्ण मनोयोग के साथ तत्पर हो गये। छः महीने में ही भगवान् ध्रुवजी के इस दुष्कर तप से प्रसन्न हो गये और मधुवन में उनके नेत्रों के समक्ष प्रकट हो गये। ध्रुवजी ने जिस लक्ष्य के साथ तीव्र भक्तियोग के साथ भगवान् की आराधना की थी, उनके उस मनोरथ को पूर्ण करते हुए भगवान् ने उन्हें वरदान देते हुए कहा – 'वत्स ! मैं तेरे हृदय का संकल्प जानता हूँ। तू जिस पद को पाना चाहता है, उसकी प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है, तो भी मैं तुझे वह अविनाशी लोक देता हूँ। '

ध्रुवजी की अभिलाषानुसार अविनाशी सर्वोत्तम लोक की प्राप्ति का वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार विदुरजी को ध्रुव-चरित्र सुनाते हुए मैत्रेय मुनि ने बताया कि भगवत्कृपा से अपनी मनोवाञ्छित वस्तु के प्राप्त होने का वरदान पाकर भी ध्रुवजी का चित्त विशेष प्रसन्न नहीं हुआ। इस बात को सुनकर विदुरजी ने अत्यन्त आश्चर्यसहित मैत्रेयजी से प्रश्न किया कि श्रीभगवान् का परमपद तो अत्यन्त दुर्लभ है, फिर एक ही जन्म में उसको पा लेने पर भी ध्रुवजी ने अपने को अकृतार्थ (अपूर्ण) क्यों समझा ? उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए मैत्रेय मुनि ने बताया कि ध्रुवजी का हृदय अपनी सौतेली माता के कटु वचनों से इस तरह आहत हो चुका था कि भगवान् से वर माँगने के समय भी उन्हें उसका स्मरण बना हुआ था, इसी से उन्होंने मुक्तिदाता श्रीहरि से मुक्ति नहीं माँगी किन्तु अब जब भगवद्दर्शन से वह मन का संताप दूर हो गया तो उन्हें अपनी इस भूल के लिए बहुत पश्चात्ताप हुआ और वे मन ही मन कहने लगे कि ब्रह्माजी के मानस पुत्र सनकादि भी जिन्हें समाधि के द्वारा अनेकों जन्मों में प्राप्त कर पाते हैं, उन भगवच्चरणों की छाया को मैंने छः महीने में ही पा लिया परन्तु चित्त में दूसरी वासना रहने के कारण मैं फिर उनसे दूर हो गया। मुझ मन्दभाग्य की कैसी मूर्खता है कि संसार पाश को काटने वाले प्रभु के देवदुर्लभ चरणकमलों में पहुँचकर भी मैंने उनसे नाशवान वस्तु की ही याचना की।

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः।
यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः॥

(श्रीभागवतजी ४/९/३२)

ये देवता पतनशील हैं, इन्हें स्वर्ग के दुर्लभ विषयों को भोगने के पश्चात् फिर नीचे गिरना होता है, इसलिए वे मेरी भगवत्प्राप्तिरूप उच्च स्थिति को सहन नहीं कर सके, अतः उन्होंने मेरी बुद्धि को नष्ट कर दिया। तभी तो मैंने अपने हठ के कारण नारदजी की यथार्थ बात भी स्वीकार नहीं की। जिन्हें प्रसन्न करना अत्यन्त कठिन है, उन्हीं भगवान् श्रीहरि को तपस्या द्वारा प्रसन्न करके मैंने उनसे जो कुछ माँगा है, वह सब व्यर्थ है। जिस प्रकार कोई अत्यन्त दरिद्र कंगाल किसी चक्रवर्ती सम्राट को प्रसन्न करके उससे तुच्छ चावलों के कण माँगे, उसी प्रकार मैंने भी आत्मानन्द प्रदान करने वाले श्रीहरि से मूर्खतावश व्यर्थ का अभिमान बढ़ाने वाले उच्च पदादि ही माँगे हैं।

इस प्रकार प्रारम्भ में ही नारदजी द्वारा ध्रुवजी को आत्मकल्याण का जो उपदेश दिया गया था, उसे न स्वीकार करने के कारण, छः महीने में ही भगवत्प्राप्ति करने के बावजूद भी ध्रुवजी को बहुत पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपने को कृतार्थ नहीं समझा। नारदजी की शिक्षा को न स्वीकार कर उन्होंने सुरुचि के अपमान से व्यथित होकर उनसे उस पद को पाने का उपाय पूछा, जिसको उनके पुरखे भी कभी प्राप्त नहीं कर सके, तब नारदजी ने उन्हें भगवान् की उपासना की विधि बताते हुए द्वादशाक्षर मन्त्र की दीक्षा प्रदान की, जिससे अपनी मनोकामना की पूर्ति होने पर भी उन्हें असंतोष रहा। परन्तु देवर्षि द्वारा दी हुई शिक्षा को सम्राट बनने पर ध्रुवजी को अपने पितामह के सदुपदेश से स्वीकार करना पड़ा। एक बार

ध्रुवजी के सौतेले भाई उत्तम को शिकार खेलते समय हिमालय पर्वत पर एक बलवान यक्ष ने मार डाला। भाई के मारे जाने का समाचार सुनकर शोक और क्रोध से भरकर ध्रुवजी ने यक्षों के देश पर चढ़ाई कर दी और फिर उनका यक्षों के साथ भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में ध्रुवजी ने अनेकों निरपराध यक्षों का वध कर दिया। उनके पितामह स्वायम्भुव मनु ने जब यह देखा तो उन्हें यक्षों पर बहुत दया आई और उन्होंने ध्रुवजी के पास जाकर उन्हें समझाया – **तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।**
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति॥

(श्रीभागवतजी ४/११/१३)

सर्वात्मा श्रीहरि तो अपने से बड़े पुरुषों के प्रति सहनशीलता, छोटों के प्रति दया, बराबर वालों के साथ मित्रता और समस्त जीवों के साथ समता का बर्ताव करने से ही प्रसन्न होते हैं।

मनुजी के द्वारा समझाए जाने पर ध्रुवजी ने यक्षों के प्रति क्रोध का त्याग कर दिया और वे उनके वध से निवृत्त हो गये। उनके इस कृत्य से यक्षों के स्वामी और भगवान् शंकर के सखा कुबेरजी प्रसन्न होकर ध्रुवजी के पास आये और उनसे बोले –

भो भोः क्षत्रियदायाद परितुष्टोऽस्मि तेऽनघ।
यस्त्वं पितामहादेशाद्वैरं दुस्त्यजमत्यजः॥

(श्रीभागवतजी ४/१२/२)

"हे क्षत्रिय कुमार! तुमने अपने पितामह के उपदेश से दुस्त्यज वैर का त्याग कर दिया, इस कारण मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ।" ऐसा कहकर कुबेरजी ने ध्रुव से वर माँगने को कहा तो उन्होंने यह वर माँगा –

हरौ स वव्रेऽचलितां स्मृतिं यया
तरत्ययत्नेन दुरत्ययं तमः। (श्रीभागवतजी ४/१२/८)

मुझे श्रीहरि की अखण्ड स्मृति बनी रहे, जिससे मनुष्य सहज ही दुस्तर संसारसागर को पार कर जाता है। कुबेरजी ने प्रसन्नता के साथ ध्रुवजी को अखण्ड भगवत्स्मृति प्रदान की। ऐसा होने पर ध्रुवजी के मन से सदा के लिए राग-द्वेष का कालुष्य दूर हो गया, जो कि छः वर्ष की अल्पावस्था में साक्षात् भगवद्दर्शन होने पर भी दूर नहीं हो सका था और इस कारण उन्होंने अपने को अकृतार्थ ही समझा था परन्तु कुबेरजी के वरदान से इस दुर्लभ वर के प्राप्त होने पर द्वेष का नाश हो जाने पर ही उन्होंने अपने को कृतकृत्य माना।

ध्रुवजी के इस चरित्र से हमें इस बात का बोध होता है कि देवर्षि नारद जैसे सद्गुरु की भी यदि हमें प्राप्ति हो जाए और वे राग-द्वेष का उन्मूलन करने वाले भक्ति के मूलभूत सिद्धान्त का यदि हमें उपदेश करें किन्तु हम उनकी इस महत्वपूर्ण शिक्षा की उपेक्षा करके केवल मन्त्र-दीक्षा का हठ करते हुए इसे ही गुरु-दीक्षा व गुरु से प्राप्त होने वाली सर्वश्रेष्ठ वस्तु समझकर ग्रहण कर लेते हैं तो साक्षात् भगवद्दर्शन प्राप्त होने पर भी हमारे मन में राग-द्वेष बने रह सकते हैं और ऐसी स्थिति में हमें भी ध्रुवजी की तरह असंतोष ही रहेगा और हम अकृतार्थ ही बने रहेंगे। श्रीमद्भागवत में वर्णित ध्रुवजी के चरित्र से यह शिक्षा मिलती है कि हमें केवल इस बात का प्रयास नहीं करना चाहिए कि किसी प्रामाणिक परम्परा के अन्तर्गत किसी अधिकृत सम्प्रदाय के गुरु द्वारा हमें विधिवत् दीक्षा मिल जाए, जैसा कि वर्तमानकालीन समाज में विशेष रूप से देखने को मिल रहा है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि आजकल भारत के साधु-वैष्णव समाज में सर्वत्र जनसाधारण के समक्ष इसी बात का प्रचार किया जाता है कि भगवान् की आराधना और उसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी प्रामाणिक आचार्य परम्परा में गुरु-दीक्षा ग्रहण करना परमावश्यक है और इसके बिना चाहे कितना भी भजन किया जाये, उसका कोई प्रभाव नहीं होता अर्थात् गुरु-दीक्षा विहीन उपासना से सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् अथवा उनके प्रेम की प्राप्ति असम्भव है। ऊपर व्यक्त किये गये इस सम्पूर्ण लेख में शास्त्र प्रमाण के द्वारा व ध्रुव-चरित्र के माध्यम से किसी विशुद्ध सन्त के 'सदुपदेश व उनके सत्संग' को गुरु-दीक्षा से अधिक महत्वपूर्ण बताने का प्रयास किया गया है।

कल्याणकारिणी 'निष्काम आराधना'

ऐसा भी नहीं है कि गुरु के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र दीक्षा का महत्त्व बिलकुल ही नहीं है। मन्त्र-दीक्षा का भी विधान है, जैसा कि चार वैष्णव-सम्प्रदाय के मूल आचार्यों के द्वारा शरणागत भक्तों को गुरु-दीक्षा प्रदान की जाती थी। भक्तमाल में वर्णन है कि श्रीरामानुजाचार्यजी के गुरुदेव ने उन्हें मन्त्र-दीक्षा देते समय आदेश दिया था कि यह परम गोपनीय मन्त्र है, इसे अपने अन्तःकरण में गुप्त रखना, किसी के सामने प्रकट मत करना। गुरु द्वारा प्रदान किये उस मन्त्र के जपने का यह प्रभाव हुआ कि भगवान् ने श्रीरामानुजजी को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। परम दयालु श्रीरामानुजाचार्यजी ने सोचा कि जिस प्रकार मन्त्र जप करके मैंने भगवद्दर्शन पाया, उसी प्रकार सभी लोग भगवान् का दर्शन प्राप्त करें। ऐसा विचारकर उसी समय रात में ही आप मन्दिर के गोपुर द्वार पर चढ़ गये और वहीं से उच्च स्वर में मन्त्र का उच्चारण किया।

जब इनके गुरुदेव को इस बात का पता चला तो वे बहुत अप्रसन्न हुए और इन्हें बुलाकर अत्यन्त क्रोध में भरकर कहा कि तुमने गुरु-आज्ञा का उल्लंघन किया है, इसलिए तुम्हें निश्चय ही नरक में जाना होगा। यह सुनकर रामानुजजी ने बड़ी ही विनम्रतापूर्वक गुरुदेव से कहा कि यदि उच्च स्वर से मन्त्र उच्चारण करने पर उसके श्रवण से अनेक जीव भगवद्धाम को जा सकते हैं तो इसके लिए मैं जन्म-जन्मान्तरों तक नरक में रहने के लिए तैयार हूँ। श्रीरामानुजजी की जीवों के प्रति ऐसी कल्याणमयी भावना को देखकर इनके गुरुदेव का हृदय भाव से भर गया और 'मन्नाथ-मन्नाथ' कहते हुए रामानुजजी को हृदय से लगाकर वे बोले कि जिसके मन में प्राणियों के प्रति ऐसी अपार करुणा है, वे भला कभी नरक में जा सकते हैं।

रामानुजजी के जीवन की इस घटना से यह पता चलता है कि गुरुदेव के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा का भी महत्त्व होता है किन्तु इसके लिए गुरु में शास्त्र प्रतिपादित लक्षण होने चाहिए। वैष्णवशास्त्रों में गुरु के जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उनसे युक्त होने पर ही ऐसे सद्गुरु के द्वारा प्रदान की गयी मन्त्र-दीक्षा वास्तविक फलदायक होती है। इसके साथ ही यह भी पता चलता है कि यदि शिष्य के हृदय में जीवों के प्रति अपार करुणा का भाव है तो वह रामानुजजी की तरह अपने मन्त्र-प्रदाता गुरु से भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यजी अपने शरणागतों को मन्त्र-दीक्षा के माध्यम से ब्रह्म-सम्बन्ध कराया करते थे। उन्होंने गोवर्धन में श्रीनाथजी के मन्दिर में लीला-गायन के लिए अष्टछाप के वैष्णवों की नियुक्ति की थी। अष्टछाप के इन वैष्णव-कवियों में चार सन्त जैसे सूरदासजी, कुम्भनदासजी, परमानन्ददासजी और कृष्णदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे तथा शेष चार वैष्णव वल्लभाचार् जी के सुपुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। अष्टछाप के इन चारों वैष्णव-कवियों को मन्त्र-दीक्षा प्राप्त होने पर भी वल्लभाचार्यजी ने इन्हें विशेष रूप से श्रीनाथजी के मंदिर में लीलागान की आज्ञा दी थी और ये सन्त अपने सम्पूर्ण जीवन में पद-रचना के द्वारा कृष्ण-चरित्र का गायन करते रहे। वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने नित्य धामगमन के पूर्व अपने सम्प्रदायानुयायियों को भोग और ऐश्वर्य के सेवन अर्थात् इन्द्रियतोषण से स्पष्ट रूप से बचने की आज्ञा दी थी और यह चेतावनी भी दे दी थी कि यदि भगवत्कथा और ठाकुर-सेवा से विमुख होकर वे लोग विषयासक्ति में डूब गये तो काल उन्हें नष्ट कर देगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि श्रीवल्लाभचार्यजी की इस विशेष आज्ञा का पालन न होने के कारण इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में धनी वर्ग का प्रचुर बाहुल्य होने के कारण विषयासक्ति बहुत बढ़ गयी है, साथ ही पूर्व में इस सम्प्रदाय का ब्रज में जैसा प्रभाव देखने को मिलता था, आपसी फूट के कारण वह प्रभाव समाप्त-सा हो गया है जबकि इस सम्प्रदाय में गुरु द्वारा प्रदत्त मन्त्र-दीक्षा का विशेष विधान है।

इससे पता चलता है कि विशेष वैष्णव-सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा में दीक्षित होने पर भी यदि मूल आचार्यों की वाणी, उनकी शिक्षा का पालन नहीं किया जाएगा तो केवल गुरु द्वारा प्रदान की गयी दीक्षा से भी लाभ नहीं होने वाला है। इसलिए वैष्णव शास्त्रों के अनुसार गुरु के रूप में केवल विशुद्ध भक्त ही मान्य हैं चाहे वे किसी प्रामाणिक सम्प्रदाय के आचार्य परम्परा के अन्तर्गत हों अथवा न हों; इसके साथ ही ऐसे सच्चे भक्त के सत्संग का सतत् लाभ उठाने का प्रयास करना चाहिए। ऐसे सच्चे संतजन चाहे किसी को अपना शिष्य न भी बनायें तब भी केवल उनकी वाणी, उनके सदुपदेश और उनके कीर्तन से ही सारे विश्व का कल्याण होता है। उदाहरण के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु तो स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही थे और वे एक भक्त के रूप में सारे भारतवर्ष में भ्रमण कर अपने नगर-कीर्तन के माध्यम से मनुष्य तो क्या, पशुओं तक को भगवत्प्रेम का दान किया करते थे। श्रीचैतन्यदेव किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे, किसी को मन्त्र-दीक्षा प्रदान नहीं करते थे, वे तो केवल हरिनाम-संकीर्तन को ही कलियुग में जीवों के कल्याण का एकमात्र साधन बताकर मुक्त हस्त से उसका वितरण करते थे, वे इस श्लोक को बार-बार कहते थे –

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इस भीषण कलिकाल में केवल 'हरिनाम' ही मनुष्यों के कल्याण का एकमात्र साधन है और हरिनाम के सिवा किसी अन्य साधन को अपनाने से कल्याण नहीं हो सकता, नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।

शास्त्र के अनुसार कोई बात जब तीन बार कही जाती है तो वह अकाट्य सत्य होती है, उसका किसी प्रकार खण्डन नहीं किया जा सकता है। इसलिए इस श्लोक में जो नाम की महिमा का त्रिवाचा से उद्घोष किया गया है, इसे चैतन्य महाप्रभुजी बार-बार उद्धृत करते हुए सभी को कृष्णनाम-कीर्तन करने की शिक्षा दिया करते थे। उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि यदि बिना गुरु-दीक्षा के नाम-जप या नाम-कीर्तन करोगे तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, जैसा कि आजकल के अत्यन्त ख्याति-प्राप्त सन्त-महात्मा जनसाधारण के समक्ष घोषणा करते हुए उन्हें बारम्बार गुरुदीक्षा लेने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। भक्तमाल सुमेरु व श्रीरामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ने कभी भी अपने ग्रन्थों में या अपने जीवनकाल में ऐसा नहीं कहा कि कल्याण के लिए गुरुदीक्षा अत्यन्त आवश्यक है, उन्होंने तो रामचरितमानस में सर्वत्र भगवन्नाम की महिमा का ही गायन किया है, जैसे –

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिर सुमिर नर उतरहिं पारा॥
चहुँ जग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।
कलि विसेषि नहिं आन उपाऊ॥

उन्होंने यहाँ तक कह दिया –

नहिं कलि करम न भगति विवेकू।
राम नाम अवलम्बन एकू॥

(श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड – २७)

कलियुग में न तो कर्मयोग से कल्याण हो सकता है, न विवेक से और न ही भक्तिमार्ग पर ही कोई चल सकता है; इस युग में तो केवल 'राम नाम' के आश्रय से ही कल्याण सम्भव है। तुलसीदासजी के अन्तिम समय में संतों ने उनसे कुछ उपदेश देने का अनुरोध किया तो उन्होंने यह कवित्त कहा –

अलप तौं अवधि जीव तामें बहु सोच-पोच,
करिबे को बहुत हैं काह काह कीजिये।
पार ना पुरान हूँ को वेद हूँ को अन्त नाहीं,
बानी तो अनेक चित्त कहाँ-कहाँ दीजिये॥
काव्य की कला अनन्त छन्द को प्रबन्ध बहु,
राग तो रसीले रस कहाँ-कहाँ पीजिये।
लाखन में एक बात तुलसी बताये जात,
जनम जौ सुधारा चाहौ राम-नाम लीजिये॥

वेद-पुराण और शास्त्रों के रहस्य को समझना बहुत कठिन है, उनमें कल्याण के बहुत से उपाय बताये गये हैं, ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? लाखों में एक महत्वपूर्ण बात

यही है कि यदि अपना मनुष्य-जन्म सुधारना चाहते हो तो एकमात्र 'राम नाम' का आश्रय लो।

इस तरह देखा जाए तो अपने सारे जीवन काल और अन्तिम समय में भी मनुष्यों के कल्याण के लिए गोस्वामीजी ने एकमात्र 'भगवन्नाम जप-कीर्तन' को ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया, उन्होंने कभी ऐसा नहीं कहा कि नाम-साधन के साथ गुरु-दीक्षा लेना भी आवश्यक है अथवा गुरुदीक्षा के अभाव में किया जाने वाला भजन लगता नहीं है अर्थात् उससे कोई लाभ नहीं होता है।

ऐसे बहुत से विशुद्ध सन्त होते हैं जो किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते, किसी को गुरु-दीक्षा नहीं देते किन्तु जब भगवान् किसी जीव पर बहुत विशेष कृपा करते हैं तो उसे विशुद्ध सन्त का संग प्रदान करते हैं। इसीलिए तुलसीदासजी ने कहा है –

संत विसुद्ध मिलहिं पुनि तेही।
चितवहिं राम कृपा करि जेही॥

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – ६९)

विशुद्ध सन्त के सत्संग से ही जीव के हृदय में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का उदय होता है, चाहे वे किसी को अपना शिष्य भले ही न बनायें। उदाहरण के लिए जब पूज्य श्रीबाबामहाराज लगभग ७० वर्ष पूर्व अपनी जन्मभूमि तीर्थराज प्रयाग से श्रीराधामाधव की लीलाओं से सुशोभित ब्रजभूमि में पधारकर साधनामय जीवन व्यतीत कर रहे थे तो उन्होंने भी गुरु की खोज की। ब्रज में उस समय के बहुत से सन्तों के पास श्रीबाबामहाराज अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गये किन्तु उन्हें उस समय श्रीप्रियाशरणबाबा महाराजजी के त्याग-वैराग्यमय एवं भजन परायण जीवन तथा उनकी ब्रज और ब्रजवासियों के प्रति अगाध निष्ठा को देखकर उन्हीं को अपने गुरुदेव के रूप में वरण करने की तीव्र अभिलाषा जागृत हुई। परन्तु श्रीप्रियाशरणजी महाराज किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते थे। श्रीबाबा से उन्होंने कहा था कि तुम ब्रज में किसी भी सुयोग्य सन्त को अपना गुरु बना सकते हो, उस समय श्रीरमेश बाबा महाराजजी ने उनसे यह कहा कि मेरे हृदय में तो आपको ही अपना गुरुदेव बनाने की प्रबल भावना है। उस समय श्रीप्रियाशरणबाबा महाराज ने श्रीबाबामहाराज से कहा था कि मैं तो किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाता हूँ किन्तु यदि तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति भाव है तो ठीक है ...। श्रीप्रियाशरणजीमहाराज को श्रीबाबामहाराज ने हृदय से अपने सद्गुरुदेव के रूप में स्वीकार कर लिया और आजीवन उनके बताये सिद्धान्तों का पूर्णरूपेण पालन किया।

पूज्य श्रीरमेशबाबामहाराज वर्तमानकाल में ब्रज-वसुन्धरा की अत्यन्त अनुपम विभूति हैं। १७ वर्ष की अल्पावस्था में ही उन्होंने अपनी जन्मभूमि का त्यागकर ब्रजभूमि का आश्रय लिया और लगभग ७० वर्षों से वे धाम-धामी की आराधना करते हुए अखण्ड ब्रजवास कर रहे हैं। श्रीबाबामहाराज ने सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में नाम-कीर्तन का प्रचार किया। मान मंदिर से उनके नेतृत्त्व में संचालित की गयी ब्रज चौरासी कोस की यात्रा के माध्यम से उन्होंने ब्रज के सभी गाँवों में ब्रजवासियों को अधिक से अधिक लोगों के लाभ के लिए प्रतिदिन प्रभात फेरी करने के लिए जागृत किया। श्रीबाबा के अनुरोध को सभी ब्रजवासियों ने स्वीकार किया और अब सम्पूर्ण ब्रज में प्रातःकाल ब्रजवासी अपने गाँवों में भ्रमण करते हुए प्रभात फेरी करते हैं। श्रीबाबा ने प्रभातफेरी के लिए सभी गाँवों के ब्रजवासियों को निःशुल्क माइक और ढोलक भी वितरित किये हैं। इसी प्रकार श्रीबाबा द्वारा सन् १९८८ में प्रारम्भ की गयी चालीस दिवसीय निःशुल्क ब्रजयात्रा में प्रतिवर्ष देश-विदेश से पंद्रह हजार से भी अधिक ब्रजयात्री सम्मिलित होकर ब्रजभूमि के दिव्यवास और परम रसमयी श्रीब्रजभक्ति का लाभ उठाते हैं। श्रीबाबामहाराज भी किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते हैं किन्तु उनके द्वारा मनुष्यों के कल्याण के लिए चलाये गये कार्यक्रमों और उनके परम दिव्य सत्संग के द्वारा असंख्य लोगों को ब्रजभक्ति और अखण्ड ब्रजवास का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ है। श्रीबाबा महाराज के द्वारा धाम-सेवा के अभूतपूर्व कार्यों में ब्रज के अनेकों कुण्डों का जीर्णोद्धार किया गया

है। खनन-माफियाओं के द्वारा बर्बरतापूर्वक नष्ट किये जा रहे ब्रज के पर्वतों का संरक्षण किया गया है। श्रीराधारानी के करकमलों द्वारा निर्मित बरसाने के प्रसिद्ध गह्वरवन का संरक्षण तथा अन्य वनों के संरक्षण एवं वृक्षारोपण के कार्यक्रम द्वारा ब्रज की वन-सम्पदा के विकास का विशेष कार्य किया गया है। इसी के साथ ही यमुना-आन्दोलन के द्वारा श्रीबाबामहाराज के द्वारा ब्रज में लुप्त हो चुकी यमुनाजी को ब्रज में लाने का प्रयास किया गया है। इसी प्रकार बरसाना में माताजी गौशाला की स्थापना के द्वारा लगभग सत्तर हजार गौवंश के पालन और उनके संरक्षण का भी अत्यधिक प्रशंसनीय कार्य पूज्यश्री के द्वारा किया गया है। श्रीबाबामहाराज अपने पास एक भी पैसा नहीं रखते हैं। ७० वर्ष से अखण्ड ब्रजवास करते हुए बाबाश्री धन के संग्रह से बिलकुल दूर रहते हैं। मानमन्दिर से ब्रज-सेवा, गौ-सेवा और समाज-कल्याण के जितने भी बड़े-बड़े कार्य किये गये हैं, उनके लिए किसी से भी कभी धन की याचना नहीं की गयी और फिर भी सभी कार्य सुचारु रूप से 'श्रीआराधना-शक्ति' से सम्पन्न होते रहते हैं। श्रीबाबामहाराज कहते हैं कि सृष्टि में 'आराधना-शक्ति' ही सबसे बड़ी शक्ति है, जिससे असम्भव कार्य भी सहज सम्भव हो जाते हैं।

पूज्य श्रीबाबामहाराज यद्यपि किसी को अपना शिष्य नहीं बनाते हैं किन्तु उनके अत्यन्त अलौकिक गुणों के कारण वे वास्तविक सद्गुरु के रूप में ग्रहण करने योग्य हैं।

वस्तुतः यह बहुत ही आधारहीन और अशास्त्रीय मत है कि समस्त सद्गुणों से सम्पन्न होने पर भी गुरु-दीक्षा न देने के कारण किसी विशुद्ध सन्त को गुरु के रूप में न ग्रहण किया जाए। वास्तव में देखा जाए तो एक सच्चे सद्गुरु के सारे लक्षण श्रीबाबामहाराज में विद्यमान हैं, इसलिए सभी को बिना किसी संकोच के उन्हें अपने सद्गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए। हालाँकि श्रीबाबा कभी किसी को ऐसी सलाह नहीं देते कि मुझे गुरु मानो, वे तो सभी से यही कहते हैं कि आजकल का जैसा दूषित वातावरण है, ऐसे कठिन समय में सभी को भगवान् को ही एकमात्र अपना गुरु मानना चाहिए।

.....

साक्षात् श्रीभगवत्कृपा स्वरूप 'श्रीसद्गुरुदेव'

बाबाश्री के सत्संग (१९/७/२०१६) से संकलित

व्यास-पूर्णिमा (गुरु-पूर्णिमा) का दिन बहुत महत्वपूर्ण होता है। भारतवर्ष के लोग इस शुभ दिन अपने गुरुस्थान पर जाकर अपने गुरुदेव की पूजा-आराधना करते हैं।

श्रीगुरु-महिमान्वित दोहे

भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पद वंदन किए नासहिं विघ्न अनेक ॥१॥
भक्ति दान मोहि दीजिए, गुरु देवन के देव।
और कछु नहिं चाहिए, निशिदिन तुम्हरी सेव ॥२॥
गुरु बड़े गोविन्द से, रे मन समझ विचार।
हरि भजें सो पार है, गुरु भजें तो पार ॥३॥
हरि लीला गुरु जौहरी, व्यासहि दियौ बताय।
तन मन आनंद सुख मिले, नाम लेत दुःख जाय ॥४॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।

सीस दिए सद्गुरु मिले, तौ भी सस्ता जान ।।५।।
हरि सेवा सोलह बरष, गुरु सेवा फल चार ।
तौ भी नाहिं बराबरी, वेदन कियौ विचार ।।६।।
कोटि-कोटि तीरथ करूँ, कोटि-कोटि करूँ दान ।
जब लौ सन्त न सेइए, तब लौ कच्चा काम ।।७।।
तीरथ जायें एक फल, संत मिलें फल चार ।
सद्गुरु मिलें अनेक फल, कहत कबीर विचार ।।८।।
मानुष तन गुरुदेव कौ, कबहुँ न मन में आन ।
श्रीगुरु के निन्दा बचन, कबहुँ मान नहिं आन ।।९।।
गुरु-निंदक को कभी, मुख न देखिए भूल ।
गुरु-निन्दा जहाँ होत है, कबहुँ न जैये भूल ।।१०।।
गुरु-चरन चित लाइये, करिए अति सन्मान ।
बिरही बिन गुरु-कृपा के, मिलहिं न राधेरानी ।।११।।
काल कठिन कलि कुटिल अति, जीव मगन भयौ सोय ।
बिरही गुरु हरिजन मिलें, मिले मुक्ति भवरोग ।।१२।।

आजकल का युग ऐसा है, जिसमें सद्गुरु का मिलना अत्यन्त कठिन है; श्रीभगवान् की विशेष कृपा से ही सच्चे संत-गुरुजन मिलते हैं, जिनके सत्संग से सहज ही भव-बंधन से मुक्त हो जाते हैं व श्रीभक्तिरस की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् शंकर ने मार्कण्डेय मुनि को देखकर पार्वतीजी से कहा कि देखो, सामने सच्चे देवता (संत) बैठे हुए हैं, जो परम पवित्र करने वाले वास्तविक तीर्थ स्वरूप हैं, इनका दर्शन करो। महादेवजी बोले –

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन यूयं दर्शनमात्रतः ।।

(श्रीभागवतजी १२/१०/२३)

'जलमय तीर्थ' तीर्थ नहीं हैं। 'चेतना से रहित मूर्तियाँ' चाहे सोने की हैं, चाहे पत्थर की हैं, वे देवता नहीं हैं। इनकी पूजा से क्या मिलेगा ? न जाने कितने जन्म व्यतीत हो जायेंगे। बहुत जन्मों के पश्चात् ये मूर्तियाँ और तीर्थ पवित्र करेंगे। किन्तु भगवान् के भक्त तो दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देते हैं। यही बात भागवत के प्रारम्भ में ही कह दी गयी है –

यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ।।

(श्रीभागवतजी १/१/१५)

जिनके हृदय में भगवान् का आश्रय है। हृदय में भगवान् नहीं बल्कि भगवान् का आश्रय है, ऐसा आश्रय नहीं है जैसे हम लोग अपने को भगवान् का दास बताते हैं जबकि हैं पैसे के दास। पैसे के लिए हम साधु लोग सेठों का आश्रय लेते हैं। उपरोक्त श्लोक में उन शुद्ध भक्तों के बारे में कहा गया है जिन्होंने एकमात्र भगवान् के चरणकमलों का आश्रय लिया है। 'यत्पादसंश्रयाः' माने भगवदाश्रित भक्त, वे मुनि हैं, उनका लक्षण क्या है ? उनका लक्षण है – 'प्रशमायन' अर्थात् शान्त है जिनका मन। जिस मन में न काम है, न क्रोध है, न लोभ है। जिसमें कोई भी लहर नहीं है, उसे प्रशम कहते हैं। ऐसे जो भक्त हैं, वे उसी समय पवित्र कर देते हैं।

'सद्यः' उनके दर्शन करते ही पवित्रता आ जाएगी। 'स्वर्धुनी' गंगा, 'आपः' पानी, 'अनु' बार-बार, 'सेवया' सेवन करने से। गंगा-जल में जब बार-बार नहाओगे, बहुत दिनों तक स्नान करोगे तब वह पवित्र करेगा। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त का तो केवल दर्शन कर लो, इतने से ही तुम्हारे पाप घट जायेंगे –

संत दरस जिमि पातक टरई । (श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड – १७)

भगवान् ने भागवत में कहा है –

साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद्बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ।।

(श्रीभागवतजी १०/१०/४१)

ऐसे भक्त का यदि दर्शन भी हो जाए तो भवसागर समाप्त हो जायेगा, फिर यदि उनका सत्संग मिल जाए तो उसका क्या कहना ? जैसे आँख के सामने सूर्य की रोशनी आती है तो अँधेरा दूर हो जाता है और सब कुछ दिखाई देने लगता है। ऐसा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि कोई ध्यान करने की, भजन करने की जरूरत नहीं है; अच्छे भक्त का दर्शन कर लो, उससे ही तुम्हारे अनन्त पाप इस प्रकार जल जायेंगे कि पता ही नहीं पड़ेगा। किन्तु समस्या यह है कि अच्छे भक्त दिखाई नहीं पड़ते, अच्छे भक्त मिलते ही नहीं हैं। भारतवर्ष में अनेक लोग गुरु बनकर

घूम रहे हैं लेकिन वे घोर भोगी और घोर संग्रही हैं। भोग और संग्रह उत्पथ है। भगवान् कहते हैं कि ये दो चीजें (भोग, ऐश्वर्य) जिसके अन्दर हैं, वह गुरु कैसे हो सकता है ? अभी तो उसका मन ही मुझमें प्रवेश नहीं कर पाया है

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत्तचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

अभी उसकी बुद्धि ही भगवान् में नहीं लगी है। यदि लगती तो संग्रह क्यों करता ? यदि बुद्धि भगवान् में लगती तो भोग में क्यों डूबता ? बड़ा खुला निर्णय दिया है भगवान् ने। ऐसा व्यक्ति गुरु क्या बनेगा, अभी तो उसकी बुद्धि ही शुरू नहीं हुई। ऐसे लोग गुरु बन जाते हैं और कहते हैं –

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

इस श्लोक में भगवान् तक ने कहा है कि गुरु ही साक्षात् भगवान् हैं। इस श्लोक का नकली लोग दुरुपयोग करते हैं किन्तु वे इस श्लोक को नहीं कहते जो स्कन्दपुराण में व्यासदेवजी द्वारा निर्मित है –

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते॥

जो गुरु माया में लिप्त है, कार्य-अकार्य को नहीं जानता है, संग्रह करता है, भोग भोगता है, उत्पथ पर चल रहा है, ऐसे गुरु का परित्याग ही कर देना चाहिए; ऐसी आज्ञा भी व्यास भगवान् ने दी है। अब ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करे ? लोग पहले तो गुरु बना लेते हैं और जब सुनते हैं – 'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म' अर्थात् गुरु साक्षात् ब्रह्म हैं; तब फिर वे गुरु का त्याग करने में डरते हैं। वस्तुतः ऐसे उत्पथगामी गुरु का परित्याग ही कर देना चाहिए क्योंकि ऐसा शास्त्र कह रहा है। यह बात भगवान् के सामने कही गयी है। ऐसा गुरु किसी को मिल जाए तो क्या करना चाहिए, भागवत में इसका रास्ता भी बताया गया है –

अचक्षुरन्धस्य यथाग्रणीः कृत-
स्तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः।
त्वमर्कदृक् सर्वदृशां समीक्षणो
वृतो गुरुर्नः स्वगतिं बुभुत्सताम्॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/५०)

'अचक्षुरन्धस्य' इसमें दो शब्द हैं - अचक्षु और अन्ध। 'अचक्षु' माने जिसके पास आँखें ही नहीं हैं और 'अन्ध' माने आँख तो है किन्तु उसमें देखने की शक्ति नहीं है।

संसार में ऐसा देखा जाता है कि जिसके पास आँख नहीं है, वह अंधे का गुरु बन जाता है और अंधे के पास आँख है किन्तु उसमें देखने की शक्ति नहीं है। आँख नहीं है फिर भी गुरु बन गया है। गुरु बनकर ये लोग उत्पथ पर जाते हैं, मदिरा पीते हैं, भोग भोगते हैं; ऐसे गुरुओं के हजारों-लाखों चेले बन जाते हैं।

'तथा जनस्याविदुषोऽबुधो गुरुः' 'अविदुष' माने जिसके पास जरा भी विवेक नहीं है। 'अबुध' माने जिसके पास सच्चा ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? क्या कोई रास्ता है ? सत्यव्रतजी कहते हैं कि रास्ता है, 'अर्कदृक्' भगवान् ही 'अर्क' माने प्रकाश तथा 'दृक्' माने दृष्टि हैं। दो चीजें होती हैं - एक प्रकाश और एक दृष्टि। आँखें हैं किन्तु उनमें प्रकाश नहीं है तो व्यर्थ है क्योंकि दिखाई नहीं पड़ेगा। आँख भी चाहिए और प्रकाश भी चाहिए। भगवान् में ये दोनों चीजें हैं, भगवान् ही आँख हैं और वे ही प्रकाश हैं। सब दिशाओं, सभी आँखों की ज्योति (समीक्षण) भगवान् हैं। इसलिए सत्यव्रतजी 'भगवान्' से कहते हैं – 'वृतो गुरुर्नः' आपको हमने अपना गुरु बना लिया। क्यों बनाया, स्वगतिं बुभुत्सताम् - 'बुभुत्सा' माने जानने की इच्छा। बोधतिं उच्छा = बुभुत्सा, हम जिज्ञासु हैं, इसलिए तुरन्त ही आपको अपना गुरु बना लेते हैं। अब यह बात हट गयी, जो लोग कहते हैं कि बिना गुरु के, बिना गुरु मन्त्र के भजन करोगे तो भजन नहीं लगेगा, यह बिलकुल गलत बात है। भजन तो सदा ही लगता है। केवल स्वार्थी लोग ही ऐसी बात करते हैं कि बिना गुरुमन्त्र के भजन नहीं लगता है, ये लोग समाज को उल्टी (विपरीत) बात बताते हैं कि बिना गुरु के भजन नहीं लगेगा। 'बुभुत्सा' माने जानने की इच्छा आई और तुम भगवान् को गुरु बना लो, जब तक कोई सद्गुरु नहीं मिले हैं। अगर भगवान् को गुरु नहीं बनाओगे तो ऐसा गुरु मिलेगा – 'जनो जनस्यादिशतेऽसतीं मतिम्' – जो दुष्ट बुद्धि - भेद बुद्धि अर्थात् मेरा-तेरा का उपदेश करेगा, उससे क्या होगा ? 'यया प्रपद्येत दुरत्ययं

तमः' – इससे तुम और अधिक अन्धकार को प्राप्त हो जाओगे, ऐसे अँधेरे में, दुरत्यय अन्धकार में पहुँच जाओगे, जहाँ से कभी निकल नहीं पाओगे। भक्तों से द्वेष करना सीख जाओगे, भक्तों से द्वेष करोगे। साम्प्रदायिक भेद में क्या होता है ? एक-दूसरे के सम्प्रदाय के भक्तों से परस्पर द्वेष किया करते हैं। सत्यव्रतजी भगवान् से कहते हैं कि यदि कोई आपको ही अपना गुरु बनाता है तो **'त्वं त्वव्ययं ज्ञानममोघमञ्जसा'** भगवान् अव्यय ज्ञान देंगे, 'प्रपद्यते येन जनो निजं पदम्' उससे अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा; कल्याण हुआ है, जैसे - ध्रुवजी जब घर से चले थे तो क्या उन्होंने कोई गुरु बनाया था, क्या किसी से मन्त्र लिया था ? अपने-आप ही भगवान् की प्रेरणा से नारदजी उनके पास आये। नारदजी ने अपनी कृपा से ध्रुवजी को मन्त्र दिया, इससे उन्हें भगवान् की प्राप्ति हो गयी; ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। धन्ना जाट को भगवान् पहले मिले और उनके गुरुजी को भगवान् बाद में मिले। 'गोपाल' नामक एक भक्त बालक था, उसको भगवान् मिल गये किन्तु उसके गुरु को भगवान् नहीं मिले। इसलिए जब तक कोई सद्गुरु नहीं मिलते हैं, तब तक मनुष्य को भगवान् को ही अपना गुरु मानना चाहिए। यह निर्विघ्न मार्ग है और भागवत में इसे कहा गया है। रामायण में भी कई जगह कहा गया है, गीता में कहा गया है। रामायण में भगवान् राम ने कहा है –

गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥

(श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड – १६)

भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि माता-पिता मुझे मानो। किसी और को माता-पिता मानोगे तो वे तुम्हारा विवाह कराके तुम्हें संसार में फँसायेंगे। भगवान् कह रहे हैं कि पति मुझे मानो। संसारी पति तो तुम्हें केवल भोग सिखायेगा। इसलिए सब कुछ मुझे मान लो। यही बात फिर महादेवजी ने भी कही है – **उमा राम सम हित जग माहीं।**

गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं॥

(श्रीरामचरितमानसजी, किष्किन्धाकाण्ड – १२)

हे भगवती ! भगवान् के समान हित न गुरु कर सकता है, न पिता कर सकता है, न पति कर सकता है। जो हित भगवान् करते हैं, ऐसा हित गुरु आदि कोई नहीं कर सकते हैं। श्रीमद्भागवत में राजा सत्यव्रत कहते हैं कि एक नहीं, दस हजार, एक लाख गुरु मिलकर भी भगवान् की कृपा की बराबरी नहीं कर सकते।

न यत्प्रसादायुतभागलेशमन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम्।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये॥

(श्रीभागवतजी ८/२४/४९)

गुरवः – गुरुओं की फ़ौज भी यदि इकट्ठी हो जाये, सारे देवता आ जायें, समेताः – सारी सृष्टि के गुरु और देवता इकट्ठा मिलकर आ जाएँ, फिर भी भगवान् की कृपा के अयुत – दस हजारवें हिस्से का भी हिस्सा ये नहीं पा सकते। अतएव हे भगवन् ! मैं आपकी शरण में आया हूँ।

इसीलिए स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभु ने किसी को अपना शिष्य नहीं बनाया था। उन्होंने संसार के प्राणियों को यही शिक्षा दी कि तुम सबसे छोटे बनो, ऐसा करने से भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी।

काम जलाना कोई कठिन बात नहीं है, अगर अच्छे विशुद्ध संत का संग मिल जाए, जिसके पास काम नहीं है, क्रोध नहीं है तो उसके संग से तुम्हारे अन्दर की कामवृत्ति दग्ध हो जायेगी किन्तु भगवान् जिस पर कृपा करते हैं, उसी को ऐसे विशुद्ध संतों, महापुरुषों का संग मिलता है। विशुद्ध संत भगवान् की पूर्ण कृपा की गारन्टी है। भगवान् की कृपा का लक्षण है 'विशुद्ध संत का मिलना'।

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥ (रा.च.मा.उत्तर. ६९)

सबसे बड़ा लाभ 'सत्संग'

बाबाश्री के सत्संग (१९/७/२०१६) से संकलित

तृणादापि सुनीचेन.....जब तुम तिनके से भी अधिक छोटे बन जाओगे, तब भोग व ऐश्वर्य नहीं रहेगा। 'ऐश्वर्य' माने बड़प्पन, 'ईश' माने स्वामी, जब हम किसी चीज के मालिक बनते हैं तो वह चीज गन्दी हो जाती है।

इसीलिए भगवान् के भक्तों को चाहिए, यदि वे गृहस्थ हैं तो कोई बात नहीं, गृहस्थ होकर भी अपने घर के मालिक मत बनो; 'ये बहू मेरी है, ये बेटा मेरा है' ये सब झगड़ा है। सूरदासजी का एक पद है –

एहि विधि कहा घटेगो तेरो।
नन्दनन्दन करि घर कौ ठाकुर, आपुन ह्वै रह्यो चेरो॥
जो बनिता सुत जूथ सकेले, हय गय बिभव घनेरौ॥

घर में अनेकों स्त्रियाँ हैं, हाथी-घोड़े हैं। आजकल हाथी-घोड़े नहीं, कार-मोटर हैं; ये सब कुछ भगवान् के हैं। अतः किसी चीज के मालिक मत बनना।

मैं भी स्वयं भोग-ऐश्वर्य से बचने का प्रयास कर रहा हूँ। मैं यह नहीं कहता कि मेरे भीतर से भोग और ऐश्वर्य चले गये हैं लेकिन सोचता हूँ कि ये चले जाएँ। यह भी भगवान् की बड़ी कृपा है कि मान मंदिर से बड़े-बड़े ब्रज के कार्य सब सहज हो रहे हैं, इतना अधिक खर्च है कि जिसको मैं बता नहीं सकता हूँ। प्रतिदिन सैकड़ों लोग रस-मन्दिर में भोजन करते हैं। रस मन्दिर भी मान मन्दिर है, यह मान मन्दिर से अलग नहीं है, यहाँ कोई भी भोजन करने, रहने के लिए आ जाता है तो किसी को मना नहीं किया जाता है। राधाष्टमी और रंगीली होली जैसे उत्सवों पर तो हजारों लोग रसमन्दिर में भोजन करते हैं, इसका खर्च कैसे चल रहा है? ये इसीलिए चल रहा है कि इसका कोई निजी मालिक नहीं है, सब कुछ श्रीठाकुरजी को समर्पित कर दिया है। जिसका मन संसार के भोग व ऐश्वर्य में लगा है, उसका मन भगवान् में नहीं लग सकता है –

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(श्रीगीताजी २/४४)

इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'समाधौ' का अर्थ 'भगवान्' है। 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' माने 'एक निश्चयात्मिका बुद्धि'। इस श्लोक का भाव यह है कि जिसका मन 'भोग और ऐश्वर्य' के प्रति आसक्त है, उसका मन निश्चित रूप से भगवान् में नहीं लग सकता है चाहे वह साधु-सन्त, आचार्य अथवा विद्वान् है। भोग और ऐश्वर्य से मुक्त व्यक्ति आजकल समाज में दिखाई नहीं देता। भोग से कोई बचा नहीं है, ऐसा स्वयं ध्रुवजी ने भागवत में कहा है – **नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते**
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥

(श्रीभागवतजी ४/९/९)

'मुमुक्षु लोग' जो भवसागर से छूटना चाहते हैं, वे घर से निकलते हैं किन्तु उनकी बुद्धि को माया चुरा लेती है। हे नाथ! आप इस संसार के विनाश से बचाने वाले भगवान् हैं। ये मुमुक्षुगण आपकी पूजा (भक्ति) तो करते हैं किन्तु अन्य हेतु (कारण, कामनाएँ) उनके मन में रहते हैं। अन्य हेतु हैं – भोग और मोक्ष। 'अर्चन्ति' माने पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं लेकिन कल्पवृक्ष को पाकर भी कुणप (मुर्दा का) भोग चाहते हैं। इस संसार के जितने भी भोग हैं, ये मुर्दे का भोग हैं। जब तक भोग की इच्छा है, तब तक हम भगवान् के सच्चे भक्त नहीं हैं क्योंकि हम स्पर्शज भोगों को चाहते हैं। 'स्पर्शज भोग' का मतलब केवल स्त्री-भोग ही नहीं होता है। अच्छा भोजन, शरीर व इन्द्रियों की सुविधायें – ये सब स्पर्शज भोग के अन्तर्गत आते हैं; ये भोग तो मनुष्य को नरक में भी प्राप्त होते हैं। 'निरय' का अर्थ होता है – नरक। मल का कीड़ा, जिसे ब्रजभाषा में 'चुनूना' भी कहते हैं तो उस चुनूना को भी चुनूनी मिल जाती है, उसको भोग ढूँढना नहीं पड़ता है, ये प्रकृति का नियम है। एक कुत्ते को विवाह नहीं करना पड़ता है, जैसे - मनुष्य को विवाह करना पड़ता है, तब उसे भोग की

प्राप्ति होती है। यह प्रकृति का नियम है कि कुत्ते को अपने आप ही कुतिया मिल जाती है। एक मलभोजी शूकर को बारात ले जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, भोग के लिए शूकरी की प्राप्ति उसे स्वाभाविक रूप से हो जाती है; इस प्रकार ये स्पर्शज भोग तो जीव को नरक में भी प्राप्त हो जाते हैं। जो मनुष्य भजन करता है, पूजा-पाठ करता है किन्तु साथ ही स्पर्शज भोगों (जो नरक में भी प्राप्त हो जाते हैं) की कामना करता है तो पूजा-पाठ करते हुए भी माया ने उसकी बुद्धि को चुरा लिया है; ऐसा ध्रुवजी ने कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि ऐसा कोई व्यक्ति है, जो दीन-हीन है, भोग व ऐश्वर्य में फँस गया है तो ऐसा नहीं है कि उस पर भगवान् की दया नहीं होगी, उसके लिए भगवान् का दरवाजा बंद नहीं है।

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।

'पुरुषार्थमूर्तेः' का अर्थ है कि आप समस्त पुरुषार्थों के साक्षात् स्वरूप हैं; आपके चरणों की पूजा, आपकी सेवा ही सच्ची कामना है।

अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥

(श्रीभागवतजी ४/९/१७)

यदि उसके मन में भोग एवं ऐश्वर्य की कामना आ भी गयी है, तब भी भगवान् ऐसे दयालु हैं; जैसे ब्याई हुई गाय अपने गर्भ से निकले बछड़े के विकारों को जीभ से चाटकर साफ कर देती है। दुनिया की किसी भी योनि में कोई भी माँ ऐसी नहीं होती है, जो गर्भ से पैदा हुए अपने शिशु के शरीर की गंदगी को जीभ से चाटकर साफ कर दे; ऐसे दयालु भगवान् हैं। भागवत के श्लोक ४/९/९ में जैसा कि ध्रुवजी ने कहा कि भगवान् की अर्चना (आराधना) करने वाला यदि भोग की इच्छा करता है तो इसका यह अभिप्राय है कि उसकी बुद्धि को माया ने चुरा लिया है। जिसकी बुद्धि को माया ने चुरा लिया है, उसको भगवान् कहाँ से मिलेंगे ? वह तो मुर्दे के भोगों को चाह रहा है। किन्तु श्लोक ४/९/१७ में ध्रुवजी ने कहा कि ठीक है, वह मुर्दे के भोगों को चाह रहा है लेकिन कोई निराश मत होओ। जिस प्रकार अपने तुरन्त के गर्भ से निकले बछड़े के शरीर के विकारों को गाय जीभ से चाटकर साफ़ कर देती है, उसी प्रकार भगवान् भी मुर्दे के भोगों को चाहने वाले अपने उपासक के विकार को चाटकर स्वयं दूर कर देंगे। यही बात भगवान् कृष्ण ने गीता में कही है –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(श्रीगीताजी ९/३०)

भगवान् के मार्ग में किसी को भी मना नहीं किया जाता। भगवान् कहते हैं कि चाहे तुम दुराचारी ही नहीं, महादुराचारी अर्थात् सुदुराचारी हो किन्तु मेरा अनन्य भाव से भजन करने लगे तो तुम साधु हो जाओगे।

अब प्रश्न यह है कि सुदुराचारी 'अनन्य' कैसे बनेगा ? ये दोनों ही बातें विपरीत हैं। परन्तु दोनों विपरीत नहीं हैं क्योंकि ऐसा कहा गया है – **"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।"** अगर भगवान् के भक्तों का संग मिल गया तो फिर संसार में कुछ भी मिलना बाकी नहीं है।

शुकदेवजी ने भी भागवत में कहा है –

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः ।
यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥

(श्रीभागवतजी ६/१/१६)

'ह्यघवान्' माने कोई महापापी है, वह तपस्या आदि से पवित्र नहीं होगा, जैसा कि भगवान् में मन लगाकर के 'तत्पूरुषनिषेवया' अर्थात् भगवान् के भक्तों की सेवा से पवित्र होगा। इसलिए शंका नहीं करना चाहिए कि कोई दुराचारी मनुष्य साधु कैसे बन जायेगा ? महादुराचारी भी है, यदि उसको शुद्ध भक्तों का संग मिल गया तो वह साधु ही नहीं बल्कि सन्त शिरोमणि बन जायेगा; दोनों बातों में विरोध नहीं है, इसका उदाहरण है - अजामिल।

पहले अजामिल बहुत श्रेष्ठ साधक था, वह अध्यात्मपथ का पथिक था –

अयं हि श्रुतसम्पन्नः शीलवृत्तगुणालयः ।
धृतव्रतो मृदुर्दान्तः सत्यवान्मन्त्र विच्छुचिः ॥

(श्रीभागवतजी ६/१/५६)

'श्रुतसम्पन्नः' उसने वेदों का स्वाध्याय किया था, 'शीलवृत्त' सदाचार, 'गुणालयः' गुणों का खजाना था। 'धृतव्रतो' ब्रह्मचर्य व्रत का धारण करने वाला था। 'मृदु' उसमें दैन्य था, 'दान्त' उसने अपनी सभी इन्द्रियों को वश में कर लिया था। 'सत्यवान' सत्य पर वह स्थित था, 'मन्त्रविच्छुचिः' मन्त्रवेत्ता व शुचि अर्थात् पवित्र था। इतनी ऊँचाई पर पहुँचने के बाद भी उसका पतन हो गया, ऐसा कुसंग के कारण हुआ। 'कुसंग' ऐसी चीज है कि हिमालय की चोटी पर पहुँचने के बाद भी मनुष्य गिर जाता है। एक बार अजामिल ने देखा कि एक भ्रष्ट शूद्र शराब पीकर किसी वेश्या के साथ भोग कर रहा था। वेश्या ने भी शराब पी रखी थी। अजामिल उस वेश्या के मद भरे नेत्रों को देखकर पतित हो गया, इतनी ऊँचाई पर जाकर भी वह गिर पड़ा, उसने वेश्या को अपने घर में रख लिया और फिर उस वेश्या के ही संग से वह दुराचारी नहीं, सुदुराचारी बन गया। वेश्या को धन देकर प्रसन्न करने के लिए वह हत्यायें करने लगा। इतने ऊँचे पद पर जाने के बावजूद भी वह इतना नीचे गिरा कि उसके जैसा पापी आज तक कोई नहीं हुआ। सबसे नीचे गिरने के बाद भी आगे चलकर वह उठा और उसके करोड़ों जन्मों के पाप नष्ट हो गये –

अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि।
यद् व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः॥

(श्रीभागवतजी ६/२/७)

नाम-महिमा का यह विश्व में एक ही उदाहरण है कि जिस अजामिल ने 'भगवन्नाम' भाव से नहीं लिया, बेटे के बहाने भगवान् का नाम लिया। इसलिए किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि सुदुराचारी कैसे साधु हो सकता है जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है। इसलिए रामायण में बताया गया है कि संसार में सबसे बड़ा लाभ क्या है ? चक्रवर्ती सम्राट बनना, देवता बनना, ब्रह्मलोक जाना आदि कुछ नहीं है। महादेवजी कहते हैं –

गिरजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।

(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड – १२५)

भक्त के संग के बराबर लाभ दुनिया में कुछ और नहीं है, न था, न होगा। इस बात को भगवान् शंकर ने रामायण में भी कहा है और भागवत में भी कहा है। जो बात रामायण में है, वही बात भागवत में भी है।

.....

श्रीब्रजाराधक संत 'बाबाश्री'

जिस प्रकार प्रत्येक युग में श्रीभगवान् के अवतार हुआ करते हैं, उसी प्रकार महापुरुषावतार, भक्तावतार भी समय-समय पर होते रहते हैं। महापुरुषजन कई प्रकार के होते हैं, जैसे महात्मा गाँधीजी महापुरुष थे, जिन्होंने स्वदेश स्वतन्त्र कराने में अपने जीवन को भी न्यौछावर कर दिया; इसी प्रकार और भी बड़े-२ महापुरुष लोकहितैषिता में समर्पित हुये। सूर, मीरा, नरसी,

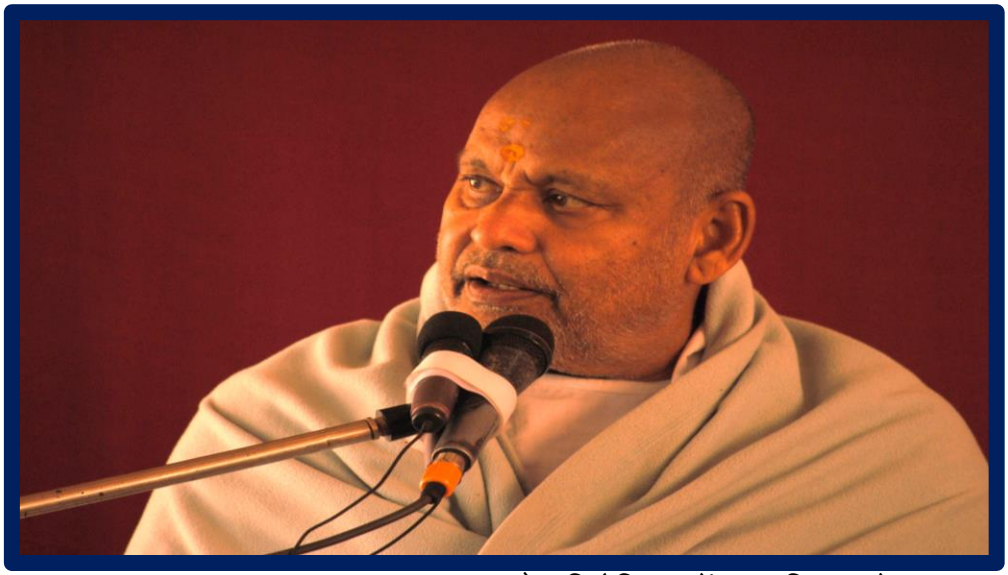

तुलसीदासजी, कवीरदासजी आदि आध्यात्मिक महापुरुष हुये। श्रीरामावतार व श्रीकृष्णावतार के पश्चात् हजारों संत-महापुरुष अवतरित हुए, जिनमें से कुछ भक्तों का संक्षिप्त स्वरूप श्रीनाभाजी ने 'भक्तमाल' में वर्णन किया है।

इसी श्रृंखला-क्रम में एक भक्त दम्पति बलदेव प्रसाद शुक्ल तथा हेमेश्वरी देवी प्रयागराज (इलाहाबाद) की पावन धरणी पर भजन-आराधन करते हुए निवास करते थे। शुक्लजी ज्योतिषविद्या के पारदर्शी ज्ञाता, शिव भक्त तथा एक बहुत बड़े राष्ट्रसेवक भी थे, जिन्होंने उस समय के नामी डाकू सुल्तान को पकड़ा था। समाज-सेवा से जब अवसर मिलता तो प्रयागराज में स्थित 'पंचकोशी समिति' में कीर्तन करने जाते और प्रत्येक शनिवार को निज निकेतन में वेदान्त-मण्डली को एकत्रित कर शास्त्रोक्त चर्चा भी करते थे। वैसे तो इस भक्त दम्पति को कोई शारीरिक-मानसिक कष्ट नहीं था परन्तु प्रत्येक माँ-बाप का एक ही सपना रहता है कि कोई गुणवान पुत्र हो, ये भी पुत्र की प्राप्ति के लिए दुःखित थे, भाँति-भाँति के उपाय करने के बाद भी किसी पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई, तब इन्होंने कोलकाता में तारकेश्वर पर जाकर पुत्र-प्राप्ति के लिए शिवाराधन किया, परन्तु फिर भी इनकी गोद सूनी रही। तब शुक्ल भगवान् ने पुत्रेच्छा से रामेश्वरम् की यात्रा की, वहाँ जाकर शिवाराधन में तत्पर हो गए तथा अनुष्ठान पूर्ण कर वह सीलौन गये और वहाँ से 'शिवलिंग' लेकर झूसी अपने गुरुदेव के 'परमानन्द गिरि आश्रम' पर पहुँचे, वहाँ आँगन में एक छोटे-से शिवालय का निर्माण कर शिवलिंग को स्थापित किया और आराधन में तत्पर हो गए। कुछ समय पश्चात् भगवान् भोलेनाथ की महती कृपा से एक तेजस्वी पुत्ररत्न का प्राकट्य सन् १९३८ में तीर्थराज प्रयाग की वसुन्धरा पर हुआ।

बाबाश्री की दीदीजी के शब्दों में – सन् १९३८ में जब 'रमेश' का जन्म हुआ तो इनके जन्म पर १२ दिन तक उत्सव चलता रहा और बड़े धूम-धाम से जन्मोत्सव मनाया गया। ये जन्म से होनहार तो थे ही, जब इनका पाँच महीने में अन्नप्राशन-संस्कार हुआ, तो उसमें बच्चे के पास पुस्तकें, पैसे, खिलौने, सोना-चाँदी इत्यादि सब चीजें रख दी जाती हैं और शिशु को वहीं लिटा देते हैं। तो इनके सामने भी ये सब वस्तुएँ रखी गईं, इन्होंने हाथ मार-मारकर पैसा-खिलौना आदि कुछ नहीं लिया; एक छोटी-सी 'भगवद्गीता' थी, उसे मुँह में भर लिया। पुरोहितजी ने कहा कि अरे ! देखो तो इसने 'गीता' को जूठी कर दिया, इसे जल्दी उठाओ यहाँ से; उनको समझ में नहीं आया लेकिन हमारे पिताजी हँस दिए और हँसकर कहने लगे कि लगता है आगे चलकर गीता पढ़ेगा। फिर 'रमेश' धीरे-धीरे बड़े होते रहे, ये भोजन कम करते थे, ज्यादातर दूध ही पीते थे, १२ साल तक ये दूध ही पीते रहे; हम बहुत जबर्दस्ती खाना खिलाएँ जब खाने बैठें, दिन भर में ये पाँच बार दूध पीते थे। हमारे पिताजी एक गाय ले आये थे। (एक कसाई 'गाय' को मारने के लिए ले जा रहा था, जैसे ही पिताजी को पता लगा तो उसी समय वे गाय को छुड़ाने के लिए गये; वह कसाई 'गाय' को छोड़ नहीं रहा था, १० रुपये देकर उससे 'गाय' को छुड़ाकर ले आये।) 'गाय' पहले एक पाव दूध देती थी, फिर धीरे-धीरे दूध बढ़ते-बढ़ते किलो-डेढ़ किलो बढ़ता गया। 'रमेश' ने उसी गाय का दूध पिया। जब गाय मर गई तो हमारे यहाँ एक और गाय थी उसका दूध पीने लगे, गाय का ही ये दूध पीते रहे, भैंस का दूध नहीं पीते थे। एक ग्वालिन थी, वह इनसे इतना प्रेम करती थी अगर हमारे यहाँ गाय दूध देना बंद कर दे तो अपने यहाँ एक विशेष गाय रख ली थी, उसका वह दूध लाकर इनको दिया करती थी।

'रमेश' का गाय से बहुत प्रेम था, गैया के छोटे बछड़े होते तो उनको चूमते थे, खिलाते थे, गाय को सहलाते थे, गाय के प्रति इनका बहुत प्रेम रहा हमेशा से; हमारी माँ स्वयं गाय की सेवा करतीं व दूध दुहती थीं। हमारे पिताजी बहुत बड़े वेदान्ती थे और हमारे चाचाजी के यहाँ वेदान्त की मण्डली बैठती थी, वहाँ वेद-शास्त्र की चर्चाएँ होती थीं तो हम सब बच्चे वहाँ अवश्य ही बैठते थे।

जब ये रमेश सात साल के थे तो हमने इनको संगीत सिखाया, हारमोनियम सिखाया तो ये जल्दी सीखने लग

गए; जब ये ११ साल के हुए तो हमारे जो संगीत के आचार्य थे, उनसे हमने इनका परिचय करा दिया, वहाँ ये सीखने लग गए, सीखते-सीखते बहुत अच्छे निकल गए; यहाँ तक कि इन्होंने संगीत प्रभाकर में टॉप किया। अगर रमेश वहाँ होते तो इनको 'गोल्ड मैडल' मिलता, वहाँ तो इनका बहुत दिनों तक बोर्ड पर नाम भी लिखा रहा। लेकिन ये न अपना रिजल्ट लेने गये और न ही मैडल; कुछ भी नहीं लिया।

श्रीसखीशरणजीमहाराज के शब्दों में –

'श्रीबाबामहाराज' ने प्रयागराज यूनिवर्सिटी में शिक्षा ग्रहण की, संगीत-शास्त्र की भी अच्छी शिक्षा प्राप्त की। बाबामहाराज की दीदीजी कानपुर यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थीं। श्रीबाबा बाल्यकाल में कानपुर में दीदीजी के पास आते-जाते थे। एक बार 'बाबाश्री' को ब्रजभूमि के कोई सिद्ध 'संतजी' कानपुर-स्टेशन पर मिले। श्रीबाबा ने संतजी से पूछा कि क्या हमें भी 'ब्रजवास' मिल सकता है? सन्तजी ने कहा – "मिल सकता है।" बाबामहाराज ने कहा कि मैं तो अपने माँ-बाप का इकलौता बेटा हूँ; कैसे मिल सकता है 'ब्रज'? सन्तजी ने कहा कि बेटा! तुम प्रतिदिन यह कहा करो कि मैं 'ब्रजवास' करूँगा। 'ब्रज' मिलता है या नहीं मिलता है, इसके लिये चिन्ता मत करो परन्तु प्रतिदिन नियम से कहो कि मैं 'ब्रज' अवश्य जाऊँगा तो तुम्हें 'ब्रजवास' मिल जाएगा।

श्रीबाबामहाराज के पिताजी 'श्रीबलदेवप्रसादजीशुक्ल' पुलिस-विभाग में आई.जी.ऑफिसर थे, जिन्होंने अंग्रेजों के समय में सुल्ताना डाकू को पकड़ा था। श्रीबाबा के बाल्यकाल में ही इनके पिताजी दिवंगत हो गए थे।

'बाबामहाराज' पहले कृपालुजीमहाराज के यहाँ सत्संग-संकीर्तन करते थे, वहाँ पर विशुद्ध भक्तिमय बहुत अच्छा प्रवचन भी देते थे, जिसे सुनकर के सभी लोग आकृष्ट व मुग्ध हो जाते थे। इसके पश्चात् आप प्रयाग छोड़कर संत वेष में चित्रकूट चले गये, वहाँ घोर जंगल में संतों के आश्रमों में रहते हुए विचरते रहते थे। तत्पश्चात् महाराजश्री ने ब्रज में श्रीगह्वरवन (श्रीबरसानाधाम) में अखण्ड श्रीधामवास किया और बड़े बाबा श्रीप्रियाशरणजीमहाराज की शरण ग्रहण की। 'श्रीबड़ेबाबामहाराज' सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में संत-शिरोमणि थे। 'श्रीबड़ेबाबा' ने श्रीबाबामहाराज को आचार्यों के ग्रन्थों का अध्ययन करवाया, श्रीआचार्यों की वाणी श्रीवृन्दावनशतक आदि संस्कृत के ग्रन्थों का भी अध्ययन करवाया और सभी सद्ग्रन्थ भी श्रीबाबामहाराज को सौंप दिये, जो आज भी श्रीबाबामहाराज के ग्रन्थालय में रखे हुए हैं।

पण्डित श्रीरामजीलालशास्त्रीजी के शब्दों में –

पूज्य श्रीबाबामहाराज दिसंबर-जनवरी के महीने में वृन्दावन पढ़ने जाया करते थे, इनकी दैनिक क्रियाओं व अलौकिक प्रतिभा का सब लोहा मानते थे। 'निम्बार्क महाविद्यालय' के सामने बिहारीजी का बगीचा है, उसमें एक बड़ा तालाब है, उसमें प्रतिदिन सवेरे पाँच बजे भयंकर सर्दी के समय गोता लगाया करते थे; इनके शौर्य और स्वाध्याय की प्रखरता की प्रशंसा श्रीअखंडानंदजीमहाराज ने सुनी, जो उस समय श्रीमहाराजजी के साथ ही 'पण्डित वैद्यनाथ झा जी' से संस्कृत पढ़ते थे; तो उनकी भी इच्छा इनसे मिलने की हुई, वह विद्वानों का बहुत आदर करते थे। श्रीबाबा उनके पास नहीं गये क्योंकि वह कुछ देते और ये कुछ लेना नहीं चाहते थे। श्रीअखण्डानंदजीमहाराज ने सुना कि ये केवल भिक्षा की ही रोटी पाते हैं, किसी भण्डारे आदि में भी नहीं जाते हैं तो उनकी इच्छा हुई कि इनके लिए 'दूध व फल' की व्यवस्था कर दी जाए। उन्होंने अपने शिष्यों द्वारा 'झा जी महाराज' व हमारे बाबा के पास संदेश भिजवाया, परन्तु उन्होंने (श्रीबाबा ने) स्वीकार नहीं किया। पूज्य श्रीबाबामहाराजजी की बड़ी सहोदर बहन थीं – श्रीमती तारकेश्वरी त्रिपाठी, 'बाबा' इनके इकलौते भाई तथा माँ के इकलौते बेटे थे। माँ और बहिन की हमेशा यही इच्छा रहती कि राम (रमेश) इलाहाबाद लौटकर आ जायें। लगभग सन् १९६१-६२ की बात है –

दीदीजी (महाराजजी की बहिन श्रीमती तारकेश्वरी त्रिपाठी) उस समय अध्ययन व अध्यापन कार्य कर रहीं थीं, उनकी पहिचान उस समय काशी विद्यापीठ के प्रोफेसर डॉक्टर दूधनाथ चतुर्वेदी से हुई, जो आगे चलकर वाइस चान्सलर भी बने। दीदीजी की प्रेरणा से दूधनाथ चतुर्वेदीजी अपने रिसर्च स्कॉलरों के साथ 'बरसाना' महाराजजी के पास इस आशय से आये कि वे आगे बढ़ें, एक कोने में बैठकर राधे-राधे करने से क्या होगा ? इधर दीदीजी ने भी श्रीबाबामहाराज के पास एक पत्र भेजा कि प्रोफेसर दूधनाथ चतुर्वेदीजी बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, तुम्हारे पास ये आ रहे हैं, तुम इनसे जरूर मिल लेना। उन दिनों महाराजजी कुण्ड के ऊपर बनी अपनी कुटिया में रहते थे, मैं भी उन दिनों महाराजजी के पास ही रहता था। वह चतुर्वेदीजी आये, दरवाजा खटखटाया मैंने किवाड़ खोले, वे अन्दर आये। महाराजजी ने उन्हें सम्मान से तख़्त पर बैठाया, अन्य सभी नीचे बैठ गये। अब दूधनाथजी ने महाराजजी को लेक्चर देना शुरू किया, उन्होंने कहा कि आप ऐसे सम्भ्रान्त परिवार से हैं, आपकी बहिन परम विदुषी हैं, आपको भी देश का गौरव उन्नत बनाने में सहयोग करना चाहिए। स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द आदि हुए, जिन्होंने भारतीय संस्कृति का प्रचार करके देश का गौरव बढ़ाया। आप अपने स्वरूप को समझिए, ऐसी क्या हीन भावना है जो आपके मस्तिष्क को जकड़े हुए है, उसे त्यागकर आप खड़े हो जाइये, विदेशों में प्रचार कीजिए। आपका जो भी खर्च होगा, हम उसे वहन करेंगे, एक कोने में पड़े हुए राधे-राधे करने से आपको कुछ नहीं मिलना है, अपनी हीन भावना का त्याग करो और अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिए देश-विदेश में भारतीय संस्कृति का प्रचार करो। 'श्रीमहाराजजी' शान्ति से उनकी बातों को सुनते रहे थे, बोले कुछ नहीं। फिर उन्होंने महाराजजी से कहा कि तुम भ्रमण क्यों नहीं करते हो ? इसे सुनकर महाराजजी बहुत थोड़े में बोले – "जीव अनादिकाल से इस भ्रमाटवी (भवाटवी) में भ्रमण करता आ रहा है, अब कहाँ तक भ्रमण करेगा, अब तो आवश्यकता है चिर-शान्ति की और वह शान्ति उसे एकदेशीय होकर ही प्राप्त हो सकती है, मैं चाहता हूँ कि आप भी उस चिर-शान्ति की प्राप्ति करें।" उन्होंने कहा – "आप प्रचार क्यों नहीं करते हो ?" श्रीबाबामहाराज बोले कि 'प्रचार' करने की वस्तु नहीं है, अन्तःकरण की संचरणशील शक्ति का नाम ही 'प्रचार' है, सूर्य कभी नहीं कहता कि मेरे अंदर प्रकाश है, परन्तु उसके उदय होते ही सारा अन्धकार ध्वस्त हो जाता है। आवश्यकता है अपने अन्दर शक्ति उत्पन्न करने की और वह 'शक्ति' एकदेशीय होकर एकमात्र 'आराधना' से ही प्राप्त हो सकती है। श्रीबाबा की परमामृतमय वाणी सुनकर उन्होंने कहा – "महाराजजी ! आप पूर्ण हैं, इसीलिये अस्मदीया आदि लोगों को आपके पास आना पड़ता है।" जब वे इतने दीनता पर आ गये तो महाराजजी बोले – "हम तो प्रमादी हैं, कहीं आते-जाते नहीं हैं, आप स्वयं कृपा करके हमारे जैसे लोगों को दर्शन देने आते हैं, हमारा ऐसा विश्वास है।" फिर उन्होंने महाराजजी के साथ अपने व अपने साथियों के अनेकों फोटो लिए और गद्‌गद् होकर बोले कि आज हम किसी ब्रजनिष्ठ विभूति से मिले; ऐसा कहकर वह लौटकर वापस चले गये, वहाँ पहुँचकर दीदीजी से उनके वैदुष्य, निष्काम भक्ति व उनकी ब्रजनिष्ठा की मुक्त कंठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की और कहा कि दीदी ! आप धन्य हैं जो आपको ऐसे भाई मिले हैं। 'ब्रजवासियों' को महाराजजी अपने नाते-रिश्तेदारों से भी बढ़कर हमेशा मानते थे, उनसे ऐसी कोई बात नहीं कहते थे जिससे उनकी निष्ठा में ठेस पहुँचे। सन् १९६३ की बात है, तब मैं कक्षा – ९ में पढ़ता था। एकबार दीदीजी दिसम्बर के महीने में बड़े दिन की छुट्टियों में आयीं थीं, 'बरसाना' में बस स्टेंड के सामने वाली धर्मशाला में रुकी थीं, उस समय दीदी की युवावस्था थी, सुंदर बहुत थीं। महाराजजी उन्हें दर्शन कराने नंदगाँव ले गये थे, मैं भी साथ में था। उन दिनों ताँगे चलते थे, हमलोग ताँगा से नंदगाँव दर्शन करने गये, वहाँ जाकर चरणपहाड़ी के भी दर्शन किये, जब लौट रहे थे तब कुछ

ब्रजवासी चर्चा कर रहे थे कि देखो, बाबाजी कैसी छट्टाय (सुंदर स्त्री) भगाय के लायौ है; उन्हें ये पता नहीं था कि यह इनकी खास बहिन है। 'दीदीजी' ब्रजभाषा समझती नहीं थीं, उन्होंने पूछा – "रमेश, ये क्या कह रहे हैं ?" महाराजजी बोले कि ये कह रहे हैं कि देखो, ये कितनी दूर से आये हैं और कितना सुंदर इनका भाव है । दीदी बोलीं – "ये ब्रजवासी बहुत अच्छे हैं। " ब्रजवासियों के प्रति उनके मन में किसी प्रकार का अभाव न आये, इसलिए बाबा ने सारा मामला ही बदल लिया । महाराजजी कहते हैं कि 'ब्रजवासी' चाहे कैसे भी हैं –

ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सम्भाष्य दृश्याश्च ये
सर्वान्वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम ॥

(श्रीराधासुधानिधि – २६४)

क्रूर हैं, पापी हैं, सत्पुरुषों से संभाषण (बातचीत) करने योग्य भी नहीं हैं, फिर भी उनके प्रति आराध्य बुद्धि रखे, यह है ब्रजप्रेम व ब्रजवासियों के प्रति निष्ठा । यह भाव महाराज जी के हृदय में समाया हुआ है। ब्रजवासी कुछ भी व्यवहार करें, वे कभी उनके प्रतिकूल नहीं सोचते हैं। जो मनुष्य अपने ऐश्वर्य, प्रभाव आदि को लेकर चलता है, उसे ब्रज का आस्वादन नहीं होता है। ब्रजरस तो उसी को प्राप्त होता है जो अपनी सत्ता को मिटाकर चलता है। इन्द्र, ब्रह्मा आदि को कृष्ण की सरलता देखकर मोह हो गया, सोचने लगे कि ये कैसा भगवान् है ? श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा, इन्द्र आदि का मान भंग किया। ब्रजवासियों के साथ इतने सरल बन गये कि कभी उनके साथ कबड्डी खेल रहे हैं, तो कभी और कुछ। कृष्ण ब्रज में अपनी भगवत्ता को मिटाकर रहे। ब्रजवासी उन्हें गाली देकर बुलाते, इसमें भी वह बड़े प्रसन्न रहते । इसी तरह महाराजजी भी जब-जब नंदगाँव जाते तो कहते कि भाई, हमें जब तक गाली नहीं मिलती, हम समझते हैं कि आज ब्रजवासियों ने सम्मान नहीं किया। सन् १९६१-६२ में श्रीमहाराजजी के संपर्क में एक पुष्टि मार्गीय भक्त आये जिनका नाम गोविन्द राम चौपड़ा था, उनके घर पुष्टिमार्ग के प्रायः सभी आचार्य पधारे थे, वे सबका सम्मान करते थे, उनका घर नन्दभवन कहा जाता था।

ब्रज के वन, बाग, बगीचे, नदी, पर्वत आदि से महाराज जी का अतिशय प्रेम रहा। गर्मी के दिनों में जब इच्छा होती तो वह यमुना-किनारे चले जाते। पहली बार पूज्यनीय महाराज जी के साथ सन् १९६५ में मई-जून के महीने में गोकुल, महावन, दाऊ जी आदि जाने का सौभाग्य मिला। उस समय उनके साथ मैं (रामजीलाल), राधाकान्त, इनके पिता प्रकाश, मुरारी लाल (स्वामी रासमंडली), सखीशरणजी इस तरह महाराज जी के साथ हमलोग ६-७ जने थे। रात्रि में यमुना के किनारे रेती में सोया करते और यमुना जी के प्रवाह की कल-कल ध्वनि को सुनते रहते। रात में यमुना पदगान होता, ढोलक-बाजा, झाँझ-मजीरे आदि सब कुछ साथ में ले जाते थे तथा ५-७ दिन के लिए राशन-पानी भी ले जाते थे। ठकुरानी घाट से बहती हुई ठाकुर जी की प्रसादी मालायें हमलोग यमुना किनारे इकट्ठी करके पहनते और बड़ी कृपा की अनुभूति करते। कभी ब्रह्माण्ड घाट रुकते, यमुना-किनारे रात भर कीर्तन व पदगान होता। एकबार ब्रह्माण्ड घाट पर हमलोग जब स्नान करने को थे, कपड़े उतारकर रख दिए, उस समय एक पाँच रुपये का नोट उड़ गया, पीछे मिला नहीं, मेरे होश गुम हो रहे थे, मेरा चेहरा उदास हो गया, डरते-डरते मैंने महाराज जी को बताया तो वह इतने नाराज हुए कि मेरी खूब डटके पिटाई हुई लेकिन मैं रोया नहीं, इसलिए कि कोई महाराज जी के विषय में कुछ कहे नहीं। जब मेरी खूब अच्छी तरह पिटाई हो गई तो आधे घण्टे बाद वह नोट भी मिल गया। नोट की बात नहीं थी, महाराजजी कहते थे कि द्रव्य 'भगवद्-सेवा' के लिए है, उसे लापरवाही से नहीं रखना चाहिए। 'कोई वस्तु खो जाए, रखकर भूल जाएँ तो यह बुद्धि का प्रमाद है, उससे भगवान् की कृपा से वंचित रहते हैं।

एकबार रात्रि के समय ब्रह्माण्ड घाट पर यमुना के किनारे हमलोगों ने विश्राम किया था, सब लोग सो गये, रोटियाँ सिर के नीचे रखी थीं, एक कुत्ता आया और रोटियों को लेकर चला गया, सवेरे जब हमलोग जगे तो रोटियाँ नहीं थीं। दाऊजी दर्शन करने गये तो वहाँ हमारी कोई जान-

पहिचान नहीं थी, पण्डाओं ने कहा – "बाबा जी ! कछू गानों-बजानो भी जानै कि ऐसे ही टूक तोड़तो डोलै। कछू जानतो होय तो साज मंगाये जाएँ, कछू महफिल जमै।" महाराज जी बोले – "मँगाय लो भाई।" ढोलक-बाजे मँगाये गये, महफिल शुरू हुई। सबसे पहले उन्होंने बोला – "हमैं तो श्याम जोगनियाँ बनाय गयौ रे।" ये बोलने के बाद हँसते हुए चारों ओर देखते हुए बोले – "हाँ महाराज, लेओ अब आपका नम्बर है।" वे समझ रहे थे कि हमने जो गाया है उसकी टक्कर का गीत हरेक के पास हो नहीं सकता। महाराजजी ने उसी तर्ज पर गाया – "मुकुट वारौ कुंजन में सटक गयौ री।" घंटों नाच-गान चला। अब तौ महाराज जी के प्रति सबका भाव ही बदल गया।

सबके भोजनकी व्यवस्था क्षीरसागर के किनारे एक त्रिलोकी नाम के ब्राह्मण के घर पर हुई। तब से दाऊजी वालों का प्रेम दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता गया। उसके बाद कई सालों तक गर्मी कीछुट्टियों में हम लोग गोकुल महावन ब्रह्माण्ड घाट दाऊजी की यात्रा पर जाते और वहाँ लगभग एक सप्ताह का कार्यक्रम रहता था।

सन् १९६४ में हाई स्कूल करने के उपरांत राधा विहारी इण्टर कॉलेज बरसाना में उस वर्ष इण्टर में विज्ञान न होने के कारण म्युनिसिपल इण्टर कॉलेज वृन्दावन में चला गया था। सन् १९६५ में गर्मियों की छुट्टियों मेंमैं वृन्दावन ही रहा। जतीपुरा में हमारे एक रिश्तेदार हैं उनकी पहचान से रंगजी मंदिर के पास एक दाऊजी का मंदिर था, मैं वही मंदिर में रहता था। उनका एक छोटा लड़का था मनोहरडागा, मैं उसे पढ़ाया करता था मेरा सारा खर्च मंदिर वहन करता था मंदिर के बाहर द्वारा के पास हनुमान जी का मंदिर था, वहीं मैं तख़्त पर सोता था। सन् १९६५ की घटना है जिसमे महाराज जी की कृपा का मैंने साक्षात् अनुभव किया। गर्मी के दिन थे, मैंबहुत बीमार हो गया था,स्थितिइतनी गम्भीर हो गयी थी कि मुझे मृत तुल्य समझकर तख़्त से नीचे जमीन में लिटा दिया गया था। जतीपुरा के माध्यम से मेरे घर खबर भेजी गयी कि बचना मुश्किल है। उसी रात एक बड़ा विचित्र चमत्कार हुआ। पू. महाराजजी की स्मृति मुझे बराबर बनीरही। रातको मैंने अजीब स्वप्न देखा। यम के दूत आये और मुझे लेजाने लगे और यमराज के यहाँ पहुँचा दिया। वहाँ मुझे बड़े-बड़े हॉल दिखे जिनमे हजारों बड़े-बड़े रजिस्टर थे, सब कुछ देखा। मेरेझर झर आंसूगिर रहे थे। मैंने यमराज से कहाकि मैं हनुमान जी के मंदिर के पासथा। मुझे महाराज जी का स्मरण हो रहा था कीर्तन भी हो रहा था वहाँ ये गये क्यों ? अन्त में मैंने कहा कि मुझे आप दो घंटे की छूट देदें। मैं वृन्दावन जाकर संतो को कह दूँ कि कीर्तन भजन करने से कुछ नहीं होता है। इधर देखा, यमराज बोले तो कुछ नहीं, अपना हाथ हिलाया और मैंने देखा कि मैं नीचे उसी मंदिर में हूँ। बड़ा आश्चर्य लगा परन्तु सारी घटना मुझे याद रही। दूसरे दिन सबेरे मेरी माताजी और पू. महाराज जी वृन्दावन पहुँच गये। मैंनेउन्हें यह स्वप्न की बात बताई। महाराज जी की कृपा से उनके प्रति मेरी जो श्रद्धा थी उसके प्रभाव से यमराज के यहाँ पहुंचकर भी मैं लौटकर वापस आगया। संतोकी कृपा से भवबंधन तो क्या यम-फंद भी कट जाता है। इस घटना से पू. महाराज जी के प्रति श्रद्धा और बढ़ गयी की संतो के आश्रय के बंधन को यमराज भी सम्मान देते हैं। सच्चाईहोतो बात ही क्या है, ढोंग में भी संतो का आश्रय रहे तो वह भी कल्याणकारी होता है।

गौ-सेवकों की जिज्ञासा पर माताजी गौशाला का Account number दिया जा रहा है –

SHRI MATAJI GAUSHALA,

GAHVARVAN ,BARSANA, MATHURA

Bank – Axis Bank Ltd A/C – 915010000494364

IFSC – UTIB0001058

BRANCH – KOSI KALAN MOB. NO. - 9927916699

तुलसीदास जी ने लिखा है -'गृह कारज नाना जंजाला' सैकड़ों जंजाल हैं गृहस्थ में ।

इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है -

"An unmarried person is half free from the world."

'जो अविवाहित व्यक्ति है, वह आधा भवसागर पार हो गया ।'

संत-संग से ही भक्ति-प्राप्ति

बाबाश्री की भागवत-सप्ताह-कथा (फरवरी १९८५) से संकलित

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ्प्रायणं हि सतामहम् ।।

(श्रीभागवतजी ११/११/४८)

बिना संत या भक्त का संग किये भक्ति नहीं मिलेगी, चाहे कोई कितना भी बड़ा हो, बिना सत्संग के वह भवसागर को पार नहीं कर सकता । इसलिए संतों-भक्तों के पास जाओ, उनके द्वार पर नाक रगड़ो । जहाँ भक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसे संतों-भक्तों के पास जाकर नाक रगड़ो । इससे तुम अनायास ही भवसागर के पार चले जाओगे । सत्संग के अतिरिक्त संसार से पार होने का और कोई उपाय नहीं है। जप, तप, व्रत, नेम, धर्म, कर्म – इनसे कुछ नहीं होगा। बिना सत्संग के ये सब व्यर्थ हैं, इनसे केवल मनुष्य भटकता ही रहता है । आचार्यों ने इस प्रसंग में लिखा है कि भगवान् का भक्त तो यदि किसी को देख भी लेता है तो इतने से ही वह जीव पाप रहित हो जाता है। हम हजारों जन्मों तक साधन करें, तपस्या करें तब भी शुद्ध नहीं हो सकते परन्तु भक्त के संग से क्षण भर में ही हमारा उद्धार हो जाएगा, 'भक्त' वह शक्ति है।

श्रीभगवान् कहते हैं –

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।।

(श्रीभागवतजी ११/१२/१)

यदि कोई कहता है कि मैं योगी हूँ, योग के द्वारा भवसागर पार कर जाऊँगा तो भगवान् कहते हैं कि वह झूठा है। योग से कोई मुझे प्राप्त नहीं कर सकता, न ज्ञान से मुझे पा सकता है। यदि कोई कहता है कि मैं बहुत धर्म करता हूँ तो धर्मपालन से भी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। शास्त्रों के अध्ययन से भी मेरी प्राप्ति नहीं होती । तपस्या से भी मैं नहीं मिलूँगा, त्याग से नहीं मिलता, यज्ञ से भी मेरी प्राप्ति नहीं होगी । इष्टापूर्त – कुँआ, धर्मशाला बनवाने से भी मैं नहीं मिलता। व्रत कर लो, तीर्थयात्रा कर लो, यम-नियम कर लो, ब्रह्मचर्य कर लो, सत्यवादी बन जाओ, संयम कर लो – इन सबसे भी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ।

(श्रीभागवतजी ११/१२/२)

केवल सत्संग से ही मेरी प्राप्ति हो सकती है । इसलिए सत्संग करो। सत्संग से क्या होता है ? सत्संग से मनुष्य की समस्त आसक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिए भक्तों के पास जाओ। सत्संग से ही गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण और विद्याधरों को मेरी प्राप्ति हुई है। असुर जाति में उत्पन्न वृत्रासुर, प्रह्लाद, बलि, बाणासुर आदि ने सत्संग के प्रभाव से ही मुझे प्राप्त किया। हनुमानजी के संग से कितने ही बन्दर भक्त बन गये, जाम्बवानजी के संग से बहुत से भालू भक्त हो गए । गजराज का उद्धार हुआ सत्संग से, गिद्ध का भी उद्धार सत्संग से हुआ। सृष्टि के जितने भी जीवों का आज तक उद्धार हुआ है, वह केवल सत्संग से ही हुआ है। ब्रज की गोपियों ने मेरे बिना केवल विरह के कारण मुझे प्राप्त कर लिया।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।

(श्रीभागवतजी ११/१२/१४)

इसलिए हे उद्धव ! शास्त्र की जितनी भी आज्ञायें हैं, उन्हें छोड़ दो। कृष्ण का स्मरण करो – यही सबसे बड़ी विधि है, सबसे बड़ा पुण्य और सबसे बड़ा धर्म है तथा कृष्ण को भूल जाना ही सबसे बड़ा निषेध है, सबसे बड़ा पाप है। अन्य जितने भी पुण्य-पाप हैं, सब इसके अधीन हैं।

भगवान् उद्धव जी से कह रहे हैं कि समस्त शास्त्रों की आज्ञा को छोड़ दो। यह वही बात है जैसा कि भगवान् ने गीता (१८/६६) में कहा है –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

भागवत में उद्धव जी से भगवान् कहते हैं –

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ।।

(श्रीभागवतजी ११/१२/१५)

एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ, एकमात्र मेरी ही भक्ति करो। अन्य समस्त शास्त्रों की आज्ञाओं को छोड़ दो। मेरी शरण में आ जाने पर किसी प्रकार का भय नहीं

होगा। एकमात्र मेरी भक्ति करो और मेरे गुण-कर्मों का गान करो। उद्धव जी ने पूछा – भगवन् ! यह संसार बना कैसे है ? मेरा मन इस संसार से पृथक नहीं हो रहा है।

भगवान् ने कहा – छः चक्र हैं। एक तो मूलाधार चक्र है, वह गुदा द्वार में है, अधिष्ठान चक्र है, मणिपूरक चक्र है नाभि में, हृदय में अनाहद चक्र है, कंठ में विशुद्धि चक्र है, भौंहों में आज्ञा चक्र है। वाणी इन छः चक्रों में होते हुए विस्तार को प्राप्त होती है।

इस संसार से पार कैसे जाएँ तो भगवान् कहते हैं –

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः ।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
संपद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥

(श्रीभागवतजी ११/१२/२४)

गुरु की उपासना से भक्ति मिलती है और भक्ति के द्वारा जीव भाव को काटकर मनुष्य प्रपंच के पार हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं – सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण बुद्धि के गुण हैं, आत्मा के नहीं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान रूप से ध्यान देने योग्य है कि कोई व्यक्ति यदि भक्ति मार्ग पर चलता है, भक्ति करता है तो उसे राजस-तामस चीजों को छोड़ना चाहिए जैसे राजस-तामस संग, राजस-तामस भोजन, देश आदि को छोड़ना चाहिए। राजस तामस आहार में माँस-मछली, अंडा, शराब आदि के सेवन से दूर रहना चाहिए। जो लोग राजस-तामस आहार करते हैं, उनका संग नहीं करना चाहिए। ऐसे देश, ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए जहाँ राजस-तामस आहार किया जाता है और ऐसी ही प्रकृति के लोग रहते हैं। भगवान् ने ऐसा क्यों कहा तो इसे उदाहरण के द्वारा समझो कि जैसे लोग स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई करते हैं तो कोई विद्यार्थी बी.ए.की कक्षा तक कैसे पहुँचता है ? पहले वह कक्षा दस की शिक्षा में पास होता है फिर कक्षा बारह में उत्तीर्ण होता है तब बी.ए. और उसके बाद एम.ए. की कक्षा में पहुँचता है।

इसी प्रकार तमोगुण से ऊपर है रजोगुण तथा रजोगुण से ऊपर है सतोगुण और सतोगुण से ऊपर हैं भगवान्। भगवान् के निकट है सतोगुण और रजोगुण भगवान् से दूर है। जैसे बी.ए. के नीचे की कक्षा है इन्टर, कक्षा आठ तो नहीं हो जाएगी। उसी प्रकार भगवान् के जो निकट है सतोगुण इसलिए पहले सतोगुण प्रधान वस्तुओं का सेवन करना चाहिए साधक को। सतोगुणी वस्तुओं का सेवन करने से धीरे-धीरे साधक की वृत्ति अपने आप ही गुणातीत या निर्गुणा हो जाएगी। भगवान् कृष्ण ने कहा –

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्ति लक्षणः ।

(श्रीभागवतजी ११/१३/२)

जब सतोगुण बढ़ जायेगा तब मेरी निर्गुणा भक्ति की प्राप्ति होगी। इसलिए पहले सात्त्विक वस्तुओं का सेवन करना चाहिए, सात्त्विक आहार करना चाहिए और संग भी सात्त्विक करना चाहिए। भगवान् तो हैं निर्गुण, उन भगवान् को पाना है तो पहले सतोगुण पर चढ़ो, रजोगुण-तमोगुण को छोड़ दो। अब प्रश्न यह है कि सतोगुण हमारे भीतर कैसे पैदा होगा, इसका उपाय क्या है जैसे किसी को खीर बनानी है तो इसके लिए दूध, चावल और चीनी की आवश्यकता होती है, इनको मिलाने पर खीर बनेगी। इसलिए प्रश्न यह है कि हम लोग सतोगुणी कैसे बनें ? यदि हम सतोगुणी हो जायेंगे तो भगवान् के पास पहुँच जायेंगे। इसका उपाय भगवान् बता रहे हैं कि दस चीजें ऐसी हैं जिनका सेवन करने से तुम सतोगुणी बन जाओगे। वे दस चीजें कौन सी हैं तो भगवान् कहते हैं –

आगमः अपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मंत्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥

(श्रीभागवतजी ११/१३/४)

पहली बात तो यह है कि सात्त्विक शास्त्र का अध्ययन करो। गन्दी पुस्तकें मत पढ़ो। अप का अर्थ है जल या भोजन अर्थात् सात्त्विक भोजन करो। राजस-तामस आहार मत ग्रहण करो। प्रजा अर्थात् सात्त्विक लोगों का संग करो, राजस-तामस लोगों का संग मत करो। सात्त्विक देश अर्थात् सात्त्विक स्थान पर बैठो, ऐसा नहीं कि जहाँ जुआ खेला जा रहा हो, लोग व्यर्थ की गप्पें हाँक रहे हों, वहाँ जाकर बैठ गये। सात्त्विक स्थान जैसे जंगल या एकान्त पवित्र स्थान में बैठो। काल अर्थात् सात्त्विक काल

जैसे प्रातःकाल भजन करने बैठ जाओ। इसी प्रकार सात्त्विक कर्म करो। इसी तरह सात्त्विक जन्म, सात्त्विक ध्यान, सात्त्विक मन्त्र, सात्त्विक संस्कार आदि इन दस चीजों पर हर समय ध्यान दोगे तो तुम थोड़े ही दिनों में सात्त्विक बन जाओगे। परन्तु ये दस चीजें सात्त्विक होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि दस में से पाँच चीजें सात्त्विक हैं, तीन चीजें राजस और दो चीजें तामस हैं। इसी बात को भगवान् ने आगे फिर कहा -

सात्त्विकानि एव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिः अपोहनम्॥

(श्रीभागवतजी ११/१३/६)

सात्त्विक वस्तुओं के सेवन से धर्म की वृद्धि होती है, धर्म से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान से समस्त शारीरिक विकार नष्ट हो जाते हैं।

उद्धव जी ने पूछा – भगवन्! विषय विपत्तियों के घर हैं, इस बात को जानते हुए भी मनुष्य इन्हीं भोगों को भोगते हुए दुःख क्यों पाते रहते हैं?

श्रीभगवान् ने कहा – अहं से रजोगुण उत्पन्न होता है, रजोगुण से काम उत्पन्न होता है और फिर कामनाओं से ग्रसित मनुष्य विषय भोग में लगता है तथा इस कारण बार-बार उसे दुःख उठाना पड़ता है।

उद्धव जी ने पूछा – आपने सनकादिक ऋषियों को ज्ञान दिया था किन्तु आप तो कृष्ण रूप में हैं, सनकादिक तो यहाँ आपके पास आये नहीं फिर आपने उनको ज्ञानोपदेश कब दिया?

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा – उद्धव! मैंने उन्हें हंस रूप से ज्ञान दिया था। एक बार सनकादिक ऋषियों ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया – पिता जी! मन ने विषयों को पकड़ा है अथवा विषयों ने मन को पकड़ा है और मन विषयों से किस प्रकार छूट सकता है। जैसे मनुष्य के मन में स्त्री, धन, लड्डू-पेड़ा आदि के प्रति आसक्ति है और ये विषय उसके मन में घुसे हुए हैं तो आप यह बताइए कि मन स्त्री, धन आदि में घुसा हुआ है या स्त्री, धन आदि मन में घुसे हुए हैं तथा ये विषय छूटेंगे कैसे?

इस प्रश्न का उत्तर पहले एक उदाहरण के द्वारा समझो कि मान लो कोई व्यक्ति किसी सरोवर में डूब रहा है, पानी उसके शरीर में भी भर रहा है, बहुत सा पानी उसके मुख के भीतर भर गया है तो इस तरह पानी में शरीर है तथा शरीर में भी पानी है। अब उस डूबते व्यक्ति को किस प्रकार बचाया जा सकता है क्योंकि उसका शरीर भी पानी में है और बहुत सा पानी उसके शरीर के भीतर भी घुस गया है। अब वह व्यक्ति बच इस प्रकार सकता है कि किसी तीसरी चीज का सहारा पकड़कर पानी के बाहर आ जाये जैसे किसी कपड़ा, रस्सी या लठिया को पकड़कर वह पानी के बाहर आ सकता है।

भगवान् इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इसी प्रकार विषय और मन एक दूसरे में घुस रहे हैं। इसलिए कोई मनुष्य विषय को छोड़ नहीं सकता चाहे वह साधु बन जाए चाहे गृहस्थ है चाहे बूढ़ा है चाहे जवान है। इनमें तीसरी चीज है भगवान्। जब भगवान् को मनुष्य पकड़ेगा तब वह विषय से छूट जायेगा। भगवान् कहते हैं –

"मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्" (श्रीभागवतजी ११/१३/२८)

मुझ तुरीय तत्त्व भगवान का सहारा पकड़कर मनुष्य विषय को छोड़ सकता है।

जो भगवान् का सहारा नहीं लेता, वह चाहे ब्रह्मचारी बन जाए चाहे सन्यासी बन जाए चाहे तपस्या कर ले, वह विषय को नहीं छोड़ सकता है। जब विषय छूट जाते हैं तब साधक को अपने शरीर का भी होश नहीं रहता है।

जहाँ केवल हर समय उत्तमश्लोक भगवान् की चर्चा होती रहती है, जहाँ ग्राम्य कथा अर्थात् संसारी चर्चा नहीं है, वहाँ जाकर रहो, वहाँ रहने मात्र से ही तुम्हारी बुद्धि अपने-आप भगवान् में लग जायेगी।

नामु बड़ राम ते

बाबा श्री के प्रातःकालीन सत्संग (२/६/२०१०) से संकलित

श्रीतुलसीदासजी लिखते हैं –

जन मन मंजु कंज मधुकर से ।
जीह जसोमति हरि हलधर से ।।

भक्तों का मन कमल है और भगवन्नाम भँवरा है । जीभ यशोदा है तथा कृष्ण और बलराम 'भगवन्नाम' हैं। इसका कई प्रकार से भाव बताया गया है कि जैसे यशोदाजी ने कृष्ण-बलराम को नहीं बुलाया था, अपने आप कृष्ण-बलराम उनके पास पहुँचे थे; वैसे ही 'भगवन्नाम' भी अपने आप अपनी कृपा से जिसकी वाणी में चाहता है, आता है । 'भगवान्' मधुकर हैं । लोग कहते हैं कि भँवरा कमल पर बैठकर उसका रस पीता है लेकिन इस बात को लोग नहीं जानते हैं कि अगर भँवरा कमल पर नहीं बैठेगा तो उसमें कीड़े पैदा होकर कमल को खा जायेंगे। इसलिए भँवरे का कमल पर बैठना उसके लिए लाभदायक होता है । इसी प्रकार 'भगवान् का नाम' यदि मन में विराजित नहीं होगा तो तुम्हारे मन में कीड़े अर्थात् मानस रोग उत्पन्न होकर तुमको नष्ट कर देंगे । उपरोक्त चौपाई में गोस्वामीजी ने बताया है कि भगवान् या भगवान् का नाम ही भँवरा है । यहाँ 'जन' का अर्थ है भक्त, 'जन' माने साधारण व्यक्ति नहीं । 'जन' नाम तभी पड़ता है, जब मनुष्य सभी आशा-भरोसा छोड़ देता है ।

समुझत सरिस नाम अरु नामी ।
प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ।।

नाम और नामी समझने में एक जैसे लगते हैं किन्तु दोनों में बड़ा प्रेम है । उदाहरण के लिए किसी लड़के का नाम शंकर है । कई लड़कों के बीच में यदि पुकारोगे – 'ए शंकर !' – तो जिसका नाम शंकर होगा, वही लड़का बोलेगा क्योंकि नाम और नामी में अभेद सम्बन्ध है, इसलिए दूसरा लड़का नहीं बोलेगा। इसीलिये 'नाम' स्वामी है और नामी उसका अनुगामी (सेवक) है, जैसे मैंने किसी को बुलाया – 'ए शंकर !' – तो शंकर नाम का लड़का स्वयं बोलेगा और मेरे पास आएगा। इससे स्पष्ट हुआ कि 'नामी' नाम का अनुगामी है । नाम के बुलाने पर नामी ही आया, कोई दूसरा नहीं आ सकता । इससे मालूम पड़ता है कि भगवान् अपने नाम के पीछे चलने वाले हैं; यह एक शाश्वत नियम है । संसार में, परलोक में भी 'नामी' सदा नाम के पीछे चलेगा, इसे कहीं भी देख लो, विश्व के किसी भी कोने में चले जाओ; इसलिए नाम बड़ा है । कारण ये है, जैसे हमने यहाँ बुलाया – 'शंकर' - तो यहाँ बैठा हुआ आदमी बोला – 'हाँ जी' । जो नामी है, वह सर्वव्यापी है, इसलिए नाम कहीं भी लोगे तो सर्वव्यापी नामी वहीं आ जाता है । इस दोहे में गोस्वामीजी के द्वारा यह एक महत्त्वपूर्ण बात कही गयी – **"प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी"** नामी सदा नाम के अधीन रहेगा यद्यपि दोनों एक जैसे हैं । यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त बताया गया है । नाम का एक और अर्थ होता है – नमयति इति नामः । नम् धातु झुकने में प्रयुक्त होती है अर्थात् जो झुकाता है । जो भगवान् को झुकाता है, बुलाता है – वह है 'नाम' । नमयति – इस व्युत्पत्ति से, ण्यन्त से नाम बना है। अब अगली है –

नाम रूप दुइ ईस उपाधी ।
अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।

नाम और रूप – ये दोनों भगवान् की उपाधियाँ हैं। अकथ अर्थात् इनका कथन नहीं हो सकता, ये अनादि हैं। केवल इन्हें समझा जा सकता है और उसे भी सब नहीं समझ सकते हैं । अच्छी समझ वाले, अच्छी बुद्धि वाले भगवान् की इस उपाधि को समझ सकते हैं । उपाधि शब्द का दर्शनशास्त्र में बहुत बड़ा महत्त्व है और इसको समझना बड़ा कठिन है । उपाधि शब्द में उप का अर्थ है पास और आधि का अर्थ है अधीन । गोस्वामीजी कहते हैं कि सभी नाम-रूप भगवान् के अधीन हैं । इसीलिए उपाधि शब्द कहा गया । अनन्त रूप, अनन्त नाम भगवान् के अधीन हैं – इसका एक तो यह अर्थ है । दूसरे लोग कहते हैं कि उपाधि का अर्थ होता है दूसरा रूप यानी ईश्वर का एक दूसरा रूप यही है – भगवन्नाम । उपाधि के कई अर्थ होते हैं । उपाधि शब्द का एक अन्य अर्थ उपद्रव भी होता है । उपाधि का एक

अर्थ पदवी भी होता है जैसे कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को उपाधि मिल गयी। उपाधि का अर्थ समीप भी होता है। इस तरह उपाधि शब्द के कई अर्थ होते हैं। इसका जो विकृत रूप है, वह माया में है। इस विषय में एक श्लोक है –

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
आद्यन्त्रयं ब्रह्म रूपं माया रूपं ततो द्वयम्॥

अद्वैत दर्शन वाले कहते हैं कि पांच चीजें हैं – अस्ति - है, भाति – भासित हो रही है और प्रिय। संसार में ये तीन तो ब्रह्म के गुण हैं तथा नाम, रूप माया के गुण हैं। उदाहरण के लिए जैसे कोई बच्चा तुमको अच्छा लग रहा है तो पहले तो बच्चा है, वह तुमको भासित हो रहा है और जो प्रियता है, वह भगवान् के कारण है। बाकी नाम-रूप माया के हैं, वे बदलते रहते हैं, वे मिथ्या हैं। दर्शनशास्त्र के अनुसार उपाधि को समझना कठिन है। दर्शनशास्त्र में लिखा है कि उपाधि क्या चीज है ? **"साध्य व्यापकत्वे सदी साधना व्यापकत्वम्"** साध्य में रहे और साधन में न रहे, उसको उपाधि कहते हैं। जैसे सृष्टि बनी, साध्य सृष्टि है, बनाने वाला भगवान् साधन है तथा माया उपाधि है तो माया साध्य में, संसार में तो रहेगी, संसार का कारण बन सकती है किन्तु साधन भगवान् का कारण नहीं बन सकती है। इसलिए उसको उपाधि कहा गया है। साध्य में रहे, साधन में न रहे। साध्य की हेतु रहे, साधन की हेतु न रहे। ऐसा दर्शनशास्त्र में कहा गया है। इसको समझना बहुत कठिन है। जैसे धुआँ है, धुआँ कैसे उत्पन्न हुआ ? इसके लिए अग्नि साधन है, धुआँ साध्य है और लकड़ी उपाधि है। लकड़ी धुएँ का हेतु बन सकती है किन्तु अग्नि का हेतु नहीं बन सकती है। अथवा दूसरा उदाहरण लो जैसे कोई स्त्री रोटी बनाती है तो वह रोटी बनाने वाली साधन है, रोटी साध्य है और आटा उपाधि है। उपाधि आटा रोटी का हेतु हो सकती है किन्तु रोटी बनाने वाली स्त्री का हेतु नहीं हो सकती है। इसलिए नाम और रूप दोनों ईश की उपाधि हैं। उपाधि माने भगवान् के अधीन हैं। ये दोनों उपाधि भगवान् का हेतु नहीं बन सकती। दर्शनशास्त्र के अनुसार इस चौपाई का यह अर्थ हुआ।

को बड़ छोट कहत अपराधू।
सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥

किसी को बड़ा-छोटा तो कहना अपराध है। समझदार लोग स्वयं ही समझ जायेंगे क्योंकि आगे कहते हैं कि नाम बड़ा है – **"कहउँ नामु बड़ राम तें"** यदि कहा जाये कि यह तो अपराध की बात है कि आपने भगवान् से उनके नाम को बड़ा बता दिया। बता दिया परन्तु नाम नामी से अलग नहीं है। इसलिए इसमें अपराध कुछ भी नहीं है। अपराध तब होता जब अलग-अलग चीजों को बड़ा बताया जाता। आगे तुलसीदासजी कहते हैं –

देखिअहिं रूप नाम आधीना।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

नाम के आधीन रूप है, यह बात समझने की है। भगवान् का रूप हो अथवा किसी का भी रूप हो, वह नाम के आधीन रहता है। बिना नाम के रूप को भी नहीं पहचाना जा सकता है, इसलिए नाम बड़ा है।

रूप बिसेष नाम बिनु जानें।
करतल गत न परहिं पहिचानें॥

तुम्हारे हाथ में हीरा दे दिया जाये और बताया न जाए कि यह हीरा है तो तुम उसको काँच समझोगे। इस तरह हाथ में आने पर भी उस वस्तु का नाम न बताने पर तुम उसे पहचान नहीं पाओगे। बहुत समय पहले की बात है, एक बार मैं मान मंदिर के रास मण्डल पर बैठा था। मेरे बगल में गोविन्द राम जी नामक एक दिल्ली के सज्जन बैठे थे। उनका शरीर मेरे शरीर से भी अधिक मोटा था। उस समय मान मंदिर पर जो भी व्यक्ति आता, वह उन्हीं को प्रणाम करता था। यह देखकर वे सज्जन हँसने लगे और मुझसे बोले कि देखिये बाबाजी ! यदि मैं आपके साथ बैठ जाऊँ तो आपकी सिद्धाई चली जाएगी। ऐसा कहते हुए वे हँस रहे थे। उनको हँसते देखकर किसी ब्रजवासी ने उनसे पूछा कि बाबा ! आप हँस क्यों रहे हैं ? गोविन्दराम जी ने उससे कहा कि बाबा मैं नहीं हूँ, ये जो मेरे बगल में बैठे हैं, ये बाबा हैं। तब सब ब्रजवासी कहने लगे – अरे, यही रमेश बाबा हैं और ऐसा कहकर फिर वे मुझे प्रणाम करने लगे।

"रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।"

इससे पता चलता है कि बिना नाम के रूप का ज्ञान भी किसी काम का नहीं है।

परम प्रबल 'प्रेम-शक्ति'

बाबाश्री के श्रीराधासुधानिधि-सत्संग (१२/५/१९९८) से संकलित

हमारे (बाबाश्री के) पास एक भी पैसा नहीं है, फिर भी यहाँ अखण्ड कीर्तन चल रहा है। किसी को किसी तरह की भौतिक सुविधा नहीं है किन्तु फिर भी यहाँ प्रेम की एक शक्ति है। बाहर का कोई भी व्यक्ति यहाँ आता है और कहता है कि क्या मैं यहाँ रह सकता हूँ तो उसे रहने की अनुमति मिल जाती है। किसी को यहाँ रहने में किसी तरह की रुकावट नहीं है। यहाँ राधारानी का खुला हुआ दरबार है। मानमन्दिर का द्वार सदा खुला रहता है। यहाँ रात को भी कभी ताला नहीं लगता है। यहाँ मेरा-तेरा की कोई संकीर्ण भावना नहीं है क्योंकि हमको अभ्यास यह करना है कि हमारा प्रेम फैले। सभी में एक भगवान् श्रीकृष्ण दिखाई पड़ें। सूरदासजी ने एक पद में कहा है कि तुम किससे बैर करते हो ? मूर्ख, जिससे तुम बैर करते हो, उसके हृदय में भी तुम्हारा प्यारा बैठा है, तुम उसको क्यों नहीं देखते हो ? **"अब हौं का सों बैर करौं।"**

सूरदासजी कहते हैं कि किससे बैर करें क्योंकि प्रभु कहते हैं कि मैं सर्वत्र हूँ, तुम्हारे शत्रु में भी हूँ।

कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते,
घट-घट हौं बिहरौं।

इसी को कहते हैं प्रेमयोग। इस प्रेम को समझना कठिन है, करना कठिन है। मैं मानगढ़ पर सबको यही सिखाता हूँ। एक दिन किसी ने मुझसे बताया कि यहाँ एक-दो संत बीमार हैं। मैंने उससे कहा कि तुम जाओ और उनकी सेवा करो, चाहे वे तुम्हारी सेवा लें अथवा न लें परन्तु सेवा करना हमारा धर्म है। यह प्रभु की आज्ञा है कि सबको प्रेम की दृष्टि से देखो।

एक सत्य घटना है – उत्तराखंड में दो गाँव हैं, उन दोनों गाँवों के लोगों के बीच में पचास साल पहले लड़ाई हो चुकी थी, इसलिए पचासों सालों से उनमें परस्पर वैर था। एक गाँव के लोगों ने दूसरे गाँव के लोगों को मार दिया था तो वे लोग उस गाँव के लोगों से बदला लेते थे और कहते थे कि इन्होंने एक खून किया तो हम भी दूसरा खून करेंगे। इस प्रकार पचासों सालों से इन दो गाँवों में लड़ाई होती रहती थी और इस कारण पचासों लोग मर चुके थे। एक गाँव के लोग मारते तो दूसरे गाँव वाले बदला लेते, दूसरे गाँव के लोग मारते तो पहले गाँव के लोग बदला लेते थे। इस आपसी संघर्ष से दोनों गाँवों के लोगों को बहुत कष्ट होता था। इन गाँवों में बहुत से पढ़े-लिखे लोग भी थे किन्तु पढ़ने-लिखने से क्या होता है ?

कबीरदासजी ने कहा है –

पोथी पढ़-पढ़ जग मरा पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

जिसने प्रेम करना सीख लिया, वह पंडित बन गया। देखा जाए तो पढ़े-लिखे लोगों में ज्यादा गड़बड़ी होती है। एक बार उस गाँव में एक नव वधू आई। गाँव वालों ने उसको समझा दिया कि वहाँ तक हमारे गाँव की सीमा है। उस सीमा के बाहर मत जाना क्योंकि उस पार दूसरा गाँव है, वहाँ के लोगों से हमारा वैर है। उस गाँव में यदि तू चली गयी तो वे लोग तुझे मार डालेंगे। नववधू ने इसका कारण पूछा तो गाँव वालों ने कहा कि उनके गाँव का आदमी हमारे गाँव में एक बार मार दिया गया तभी से आपस में दोनों गाँवों का वैर चल पड़ा है। इस गाँव के ३० लोग मारे जा चुके हैं और उस गाँव के ३१ लोग मारे जा चुके हैं। एक अधिक हो गया है इसलिए अबकी बार वे लोग हमारे गाँव से बदला अवश्य लेंगे। इसीलिए हमारे गाँव का कोई आदमी उस गाँव में नहीं जाता और न ही उस गाँव का कोई आदमी इस गाँव में आता है।

यह नववधू अनपढ़, गँवार होते हुए भी समझदार थी किन्तु इस गाँव के बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगों में बुद्धि नहीं थी। इस नववधू ने अपने घर वालों से पूछा कि क्या यह झगड़ा समाप्त नहीं हो सकता ? घर वाले बोले – 'नहीं, यह झगड़ा समाप्त नहीं हो सकता है। खून का बदला तो खून होता है। तू चुप रह।' इस प्रकार घर वालों ने डाँटकर बहू को शांत कर दिया। परन्तु इस नव वधू के हृदय में

ज्ञान का प्रकाश था। ऐसा प्रकाश सबके हृदय में नहीं आ सकता है। इस नववधू ने किसी से कुछ नहीं कहा परन्तु अपने मन में सोच लिया कि इन दोनों गाँवों में पचासों सालों से जो झगड़ा होता आ रहा है, उसे मैं समाप्त करूँगी। एक दिन वह रात को उठी, जबकि पहाड़ पर सारा गाँव सो रहा था और पहाड़ के जंगलों में शेर-चीते आदि हिंसक पशु रहा करते थे किन्तु भगवान् ने उस नववधू को हिम्मत दी तथा रात को ही वह अपने घर से अकेले बिना किसी हथियार के निकल पड़ी जबकि घर वालों ने उसको कहा था कि यदि कभी सीमा की ओर जाना तो हथियार लेकर जाना। पहाड़ों की स्त्रियाँ बड़ी बहादुर होती हैं। उनको शेर भी नहीं मार सकता। इस नववधू ने कोई हथियार नहीं लिया और कई किलोमीटर तक भागते-भागते उस शत्रु गाँव में पहुँच गयी। उस समय रात को उस गाँव के भी सभी लोग सो रहे थे। इस नववधू ने एक घर के पास पहुँचकर उसका दरवाजा खटखटाया। घर के लोगों ने पूछा – 'कौन है ?' नववधू ने बताया कि मैं उस गाँव की बहू हूँ। उस घर के लोगों ने कहा – 'इसे पकड़ो। यह तो अच्छा शिकार आ गया। इसको मार दो, बराबरी हो जाएगी।' उसी समय सारे गाँव के लोग इकट्ठा हो गये और इस नववधू को गाँव के बीच चबूतरे पर बैठाया गया। सबने सोचा कि अब इसको मारकर उस गाँव के साथ खून का बदला बराबर हो जायेगा। गाँव के लोगों ने नववधू से पूछा कि तू रात के समय अकेले इस गाँव में कैसे आ गयी ? नववधू ने कहा – 'देखो, मैं मरने के लिए ही यहाँ आई हूँ।' गाँव वालों ने कहा – 'हाँ-हाँ, तू बात बहुत बनाती है कि मैं मरने के लिए आई हूँ। अब तू यहाँ बच नहीं सकती है।' गाँव वालों की बात सुनकर नववधू मुस्कुरा गयी और बोली – 'मैं रात को अकेले भागकर यहाँ बचने के लिए नहीं आई हूँ।' अब तो लोग उसकी बात ध्यान से सुनने लगे और उससे पूछा कि अकेले रात को भागकर यहाँ क्यों आई हो ? नववधू ने उत्तर दिया – 'मैं अमुक गाँव की लड़की हूँ और तुम्हारे शत्रु गाँव में बहू बनकर आई हूँ। वहाँ के लोगों ने मुझे बताया कि इन दोनों गाँवों में बहुत सालों से आपसी बैर है तथा इनमें खून का बदला खून से लिया जाता है। आपके यहाँ ३१ लोग मरे और उस गाँव में ३० लोग मरे हैं। उस गाँव के लोगों ने मुझसे कहा था कि गाँव की सीमा पर कभी जाना तो हथियार लेकर जाना। इन सब बातों को सुनकर दिन में तो उस गाँव का कोई मुझे आपके गाँव में आने भी न देता और यदि आती तो वे लोग ही मुझे मार डालते। इसलिए मैं रात को आई हूँ और केवल मरने के लिए आई हूँ। आप लोग मुझे मार दो लेकिन यदि मेरी अच्छी भावना को आप लोग समझते हैं तो मुझको मारकर और बदला चुकाकर अब इस पुराने बैर को समाप्त कर दीजिये। मैं इसीलिए अपना बलिदान करने के लिए आपके गाँव में आई हूँ जिससे कि दोनों गाँवों के मध्य अब प्रेम उत्पन्न हो जाये।' ऐसा कहकर वह नववधू गाँव वालों के पैरों पर गिर पड़ी और बोली – 'आप लोग अभी मुझे मार दीजिये किन्तु मेरी इस शर्त पर मारिये। मैं यहाँ मरने के लिए ही आई हूँ।' नववधू की बात सुनकर उसको मारने के लिए किसी का हाथ नहीं उठ रहा था। नयी बहू और उसकी मानसिक स्थिति कितनी ऊँची थी, उसके अन्दर कितना दिव्य ज्ञान था। जिसकी आत्मा में शक्ति होती है, वही ऐसा ज्ञान दे सकता है। भला एक गधा दूसरे गधे को क्या ज्ञान देगा ? इन दोनों गाँवों के अन्दर आदमी नहीं, सभी गधे रहते थे। किसी के अन्दर ज्ञान-शक्ति नहीं थी। महापुरुषों ने कहा है –

आहार निद्रा भय मैथुनं च
सामान्यं एतत् पशुभिर्नराणाम्।

आहार – खाना, निद्रा – सोना, मैथुन – बच्चा पैदा करना और भय – ये चार चीजें पशुओं में भी होती हैं और मनुष्यों में भी होती हैं; फिर दोनों में अन्तर क्या है ?

धर्मो हि तेषां अधिको विशेष
धर्मेण हीना पशुभिः समाना ॥

जिसके अन्दर धर्म अथवा ज्ञान है, वह तो मनुष्य है और धर्म के बिना तो सभी पशु हैं। हम जैसे लोग गधे हैं। यदि हममें ज्ञान नहीं है तो गधे ही तो हैं। पूँछ नहीं है तो क्या हुआ ? अस्तु, उस नववधू की क्रान्तिकारी बातों को सुनकर पूरे गाँव में से एक भी व्यक्ति उसको मारने के लिए तैयार नहीं हुआ। गाँव वालों ने नववधू से कहा – 'हम लोग तुझको तो नहीं

मारेंगे, उस गाँव के किसी पुरुष को मारेंगे, हमारा बदला तब चुकेगा ।' नववधू बोली – 'अरे, बिना मरे मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी । मैं यहाँ मरने के लिए आई हूँ । याद रखो, जब मैं उस गाँव में नहीं जाऊँगी तो वहाँ के लोग जीवन में कभी भी मुझे ग्रहण नहीं करेंगे क्योंकि मैं घर से भागकर आई हूँ । तुम लोग यदि मुझे नहीं मारोगे तो उस गाँव में जाने पर वहाँ के लोग मुझे मार डालेंगे कि यह हमारे बैरी गाँव में क्यों गयी ?' इस गाँव के लोगों को यह बात समझ में आ गयी कि यदि हम लोग इसको नहीं मारेंगे तो उस गाँव में जाने पर वहाँ के लोग इसको अवश्य ही मार डालेंगे । नववधू ने गाँव वालों से कहा कि यदि आप लोग मुझे नहीं मारेंगे तो उस गाँव के लोग मुझे मार देंगे, मुझे तो हर हालत में मरना ही है । इससे तो अच्छा यही है कि आप लोग ही मुझे मार दीजिये । गाँव वाले बोले – 'तुझे तो हम लोग नहीं मारेंगे ।' नववधू ने कहा – 'यदि आप लोग मुझे नहीं मारेंगे तो मैं उस गाँव में नहीं जाऊँगी । मेरा जीवन तो अब समाप्त ही हो चुका किन्तु इस पुराने झगड़े को नष्ट करके ही मैं हटूँगी ।' सारी रात नववधू और गाँव वालों की बातचीत चलती रही । वह कहती कि मुझे मार डालो किन्तु गाँव वाले कहते कि हम तुझे नहीं मारेंगे, सबेरा हो गया । गाँव वालों ने बहू से कहा कि अब तू अपने गाँव में जा किन्तु उसने वहाँ जाने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा कि यदि मैं वहाँ जाऊँगी तो मारी जाऊँगी । मैं तो यहीं आप लोगों के दरवाजे पर ही मरूँगी । दोपहर हो गयी । अब उस नववधू के घर और गाँव के लोग उसकी खोज करने लगे कि हमारी बहू कहाँ चली गयी ? वे समझ गये कि वह मार डाली गयी । धोखे में वह शौच करने के बहाने सीमा पर चली गयी होगी और उस गाँव के लोगों ने उसे मार दिया होगा । किसी ने कहा कि एक बहू हमारे गाँव की मारी गयी, अब संख्या ३१ हो गयी । दोनों गाँवों के मरने वालों की संख्या बराबर हो गयी । अब ३२ वें व्यक्ति के मारे जाने के सम्बन्ध में सब लोग सावधान रहना । सीमा पर सब लोग बहुत होशियारी के साथ जाना । इधर इस गाँव के सारे लोग नववधू को बार-बार अपने गाँव में जाने को कहते किन्तु वह उनकी बात नहीं मानती । उसकी आत्मा की आवाज का इस गाँव के लोगों पर प्रभाव पड़ा । वहाँ के कुछ समझदार लोगों ने उस नववधू से कहा – 'बेटी ! जब तू अपना बलिदान चाहती है तो फिर जो होगा, देखा जायेगा । अब हम सब लोग तेरे गाँव में चलते हैं, चाहे भले ही वे लोग धोखे में हमें मार डालें ।' अब तो यह नववधू अपने शत्रु-गाँव के लोगों की टोल लेकर अपने गाँव में आई । उस गाँव के लोगों ने देखा कि हमारे शत्रु-गाँव के लोग बिना हथियार के ही हमारे गाँव में आ रहे हैं तो वे चिल्लाने लगे – 'इन सबको मार डालो ।' ऐसा कहकर उन लोगों ने शत्रु-गाँव के लोगों को घेर लिया । जब नववधू ने देखा कि ये लोग हथियार लेकर मारने के लिए आये हैं तो वह जोर-जोर से कहने लगी – 'मुझे मारो, मुझे मारो, क्योंकि मैं इन सब लोगों को लेकर यहाँ आई हूँ ।' उसके गाँव वालों ने अपनी बहू से पूछा – 'क्या तू इन लोगों को बुलाकर लाई है ? तू उस गाँव में कैसे पहुँच गयी ?' बहू ने कहा – 'मैं इनके गाँव में रात को मरने के लिए गयी थी जिससे कि तुम लोगों का आपसी बैर समाप्त हो जाए । इन लोगों ने मुझे मारा नहीं बल्कि अपनी बहिन बना लिया । अब तुम लोग हथियार उठाओ और मुझको मार डालो ।' अपने गाँव की बहू की बात सुनकर सभी लोग चुपचाप खड़े थे । बहू ने पूछा – 'अब तुम लोग मुझे मारते क्यों नहीं हो ? उस गाँव के ये लोग मेरे साथ आये हैं । तुम लोग इनके साथ शत्रुता का बर्ताव करते हो । धिक्कार है तुम लोगों को ।' कथनाशय यह है कि उस नववधू के प्रयास से अन्त में उन दोनों गाँवों की पचासों वर्षों की शत्रुता समाप्त हो गयी । एक स्त्री ने ऐसा कमाल करके दिखाया । बाकी उस गाँव के पुरुषों के बारे में क्या कहा जाए, कहने को तो वे पुरुष थे परन्तु वास्तव में पूरे गधे थे ।

मैंने (बाबाश्री ने) साधु समाज में जाकर उनसे कहा – हम लोग साधु हैं, हमारा धर्म है आपस में प्रेम रखना । आप लोग इतने अधिक हैं तो एक बुद्धि रखिये, एक मन रखिये । इससे आपका अखण्ड कीर्तन भी चलेगा । पहले प्रेम करना सीखिये । प्रेम की शक्ति सबसे बड़ी है । प्रेम ही श्रीकृष्ण हैं । प्रेमयोग से ही भगवान् मिलते हैं ।

कितनी भी सुन्दर स्त्री है, आखिर उसके शरीर से निकलता तो है मल-मूत्र ही और उस मल-मूत्र पर मरने वाले अर्थात् मल-मूत्र की पिण्डी स्त्री से भोग-सुख चाहने वाले क्या भक्त हो सकते हैं?

बुद्धियोग से कुशल कर्म

बाबाश्री के श्रीमद्भगवद्गीता-सत्संग (२/२/२०१२) से संकलित

जो अभक्त होता है उसकी वाणी का आवेग नहीं रुकता है, वह तो बकबक करता जाएगा चाहे उसे कितना ही क्यों न रोको क्योंकि उसका 'अहं' उछलता रहता है, अहं चुप नहीं बैठने देता इसलिए भगवान् ने कहा कि स्थितप्रज्ञ बनने के लिए भी यही लक्षण हैं –

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

दुःख में घबराहट, भय न हो, सुखों की स्पृहा (इच्छा) न हो। **वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥**

इस प्रकार स्थिर बुद्धि हुई और ब्रह्मवेत्ता बन गये, बहुत शीघ्र ब्रह्म में स्थिति हो गयी। इसलिए जिसको परमार्थ में चलना है, उसको अपनी बुद्धि स्थिर रखनी होगी। भगवान् ने यहाँ तक कहा कि वेद पढ़ने से भी क्या होगा, वेद पढ़ने से भी बुद्धि चंचल हो जाती है-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

(श्रीगीताजी २/५३)

जो लोग ज्यादा पढ़ लेते हैं, उनकी बुद्धि प्रतिपन्न अर्थात् अलग चली जाती है, चंचल हो जाती है। संसारी पढ़ाई मन को चंचल बनाती है। वेद की पढ़ाई भी मन को चंचल कर देती है। जब मन चंचल नहीं रहेगा, स्थिर हो जायेगा, भगवान् कहते हैं तब तुम्हारी बुद्धि मुझमें अचल हो जाएगी, तब तुमको योग की प्राप्ति होगी, इसके पहले योग की प्राप्ति नहीं होगी। स्थितप्रज्ञ नहीं है तो उसको योग की प्राप्ति नहीं होगी। इसीलिए अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया कि स्थितप्रज्ञ होने के लिए क्या करना चाहिए ?

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

(श्रीगीताजी २/५४)

स्थितप्रज्ञ की क्या भाषा है, क्या लक्षण है, कैसे वह बोलता है, कैसे उठता है, कैसे क्रिया करता है ? इसके पहले के श्लोक में भगवान् ने पहले ही कह दिया –

"समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि"

स्थितप्रज्ञ को ही योग की सिद्धि होगी, जब अचल बुद्धि होगी तभी योग की प्राप्ति होगी, उसके पहले नहीं होगी। उसके पहले मन इधर-उधर जायेगा। लोग साधु बनने के बाद भी विवाह करते हैं क्योंकि बुद्धि अचल नहीं रहती है और वे योग से गिर जाते हैं। इस तरह भगवान् ने अर्जुन से इस श्लोक में कहा कि हर कर्म 'योग' में स्थित होकर करो, 'आसक्ति' छोड़कर करो; सिद्धि-असिद्धि में समान हो गए तो योग हो गया। योग होने के बाद तुम जो भी काम करोगे, वह तुमको परमार्थ में सहायता देगा।

श्लोक – ४९

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

जो संसारी कार्य हैं, वे बड़े तुच्छ हैं। बुद्धियोग के अतिरिक्त जो भी कर्म हैं, वे अत्यन्त तुच्छ (नीच) हैं। समानता को लेकर चलने वाला तो योगी है और जो बहुत जल्दी क्रोध करता है, बकबक करता है, चिल्लाता है, वह अत्यन्त नीच पुरुष है, उसका सारा कर्म बड़ा नीच है क्योंकि वह बुद्धियोग से रहित है। बुद्धियोग क्या है ? **'समत्वं योग उच्यते'** – मन सदा एक-सा रहे, उसे बुद्धियोग कहते हैं और जिसका मन घबरा गया, उद्विग्न हो गया, उसके हर कर्म बहुत नीच होते हैं क्योंकि वे बुद्धियोग से रहित होते हैं। बुद्धि को समान रखना ही योग है। भगवान् कहते हैं – अपनी बुद्धि की शरण में जाओ अर्थात् बुद्धियोग की शरण में जाओ। **कृपणाः फलहेतवः** – बुद्धि को नीच कौन बनाता है ? वह है फल। हमने कहा – तुमने यह काम नहीं किया, हमने कुछ कहा और तुमने हमारी बात काट दी – ऐसी बातें कहने वाले लोग कृपण (अत्यन्त नीच) हैं, फल (हेतु) को लेकर चलते हैं, वे बड़े नीच हैं। जरा-सी कोई बात उनके मन के प्रतिकूल होती है तो काम, क्रोध,लोभ व अहंकार में डूब जाते हैं क्योंकि कृपण हैं। कृपण होने से हर समय फल को दृष्टि में रखकर कार्य करते हैं।

पूज्य श्री महेश पंडित जी की देवरिया (उत्तर प्रदेश) में श्रीमद्भागवत कथा

राधा सरोवर गहवर वन की सफाई करते हुए ब्रजवासीगण एवं मान मन्दिर परिकर

राधा सरोवर, गहवर वन की सफाई करते हुए ब्रजवासीगण एवं मान मन्दिर परिकर

श्री केदारनाथ एवं श्री कामेश्वर महादेव के दर्शन करने पहुंचे पूज्य बाबाश्री

RNI Reference No. 1313397 - Registration No. UP BIL-2017/72945 - Title Code UP BIL-04953
Postal Regd. No. MTR 093/2021-2023
श्री मान मंदिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा Gupta Offset Printers A -125 /1, Wazirpur Industrial Area, New Delhi -52 से मुद्रित एवं मान मंदिर सेवा संस्थान, गह्वर वन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित